

प्रथम संस्करण : १९९८ ई., वि.सं. २०५५, वीर सं. २५२५



सम्पादक :

शान्ति चन्द्र मेहता

'महत्ता सदन' ए-४ कुंभानगर, चित्तौडगढ (राज.)



प्रकाशक·

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

बीकानेर-३३४००५



अर्थ सहयोगी:

धर्मचन्द पारख, नोखा



मूल्य : ३०/-

रियायती मूल्य : २०/-



मुद्रक :

अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स

सिटी डिस्पेंसरी के पास, भुजिया बाजार, बीकानेर

प्रकाशकी

'अपने को समझें'– द्वितीय पुष्प स्वाध्यायियों, आत्मरसिको एव पाठको को स्वागत कराते हुए अपार हर्षानुभूति हो रही है। इसमें श्रमण सस्कृति के साधुमार्गीय हुक्मेश सघ के अष्टमाचार्य समता विभूति, अध्यात्म योगी, समत्व दर्शन-प्रणेता, समता समाज सरचना के सूत्रधार परम पूज्य प्रात स्मरणीय 1008 श्री नानेश द्वारा नोखा वर्षावास (वि सं 2033) मे 9 8 76 से 14 9 76 अवधि मे प्रदत्त तेईस प्रवचन सग्रहीत हैं।

साधुमार्गी आम्नाय का चतुर्विध सघ गौरवान्वित है ऐसे विचक्षण प्रतिमा सम्पन्न प्रभावक एव जिनशासन प्रद्योतक आचार्य भगवन् से, जिन्होने उपभोगवादी सस्कृति से दिग्भ्रान्त मानव को चिन्तन का नव आयाम प्रदान किया है और तनाव, सघर्ष, टकराव, बिखराव से शान्ति, मैत्री, समन्वय व समता की ओर अग्रसर होने का मार्ग प्रशस्त किया है। आपने अध्यात्म से जुडने हेतु शाश्वत जीवन मूल्यो की पृष्ठ भूमि से युगीन चेतना को सस्पृष्ट करते हुए 'सपिक्खए अप्पाणमप्पएण' अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का सदेश प्रदान किया है। अन्य शब्दो मे कहें तो इन प्रवचनो का सार है– स्थूल चेतना द्वारा सूक्ष्म चेतना में प्रवेश कराना, जो अध्यात्म चेतना के जागरण का मूल सूत्र है।

वस्तुत स्वभाव मे रमण का लक्ष्य है चित्त की निर्मलता, जो एकाग्रता, सहिष्णुता, सकल्प दृढता, मैत्रीभाव एव अर्न्तदृष्टि का विकास करना। एतदर्थ आवश्यकता है– पदार्थो के साथ अभेद की स्थिति स्थापित करना, स्थूल शरीर/मन को निष्क्रिय करना, सूक्ष्म शरीर/चेतना को सक्रिय करना, भावभूमि को प्रशस्त करना तथा विचारो एव सवेदन को नियन्त्रित करना। इस परिप्रेक्ष्य मे आचार्य देव ने अपने प्रवचनो मे मर्यादाओ की नाव मोक्ष की मजिल, अन्तर्चक्षु का खुलना मुक्ति पथ पर अग्रसर होना, तपाराधना/ आत्मालोचन से आत्मप्रक्षालन, समता में निहित है अनन्त आनन्द, आत्म स्वरूप की विराटता की कीर्तिमान है क्षमाभाव, वर्तमान को पकडें एव भविष्य सुधारें आदि पर सरल, सहज, बोधपरक विचार व्यक्त किये हैं।

चेतना के मुख्यत तीन स्तर हैं– नैतिक चेतना, धर्म चेतना और अध्यात्म चेतना। नैतिक चेतना का सदर्भ है समाज और धर्म चेतना का

व्यक्ति जबकि अध्यात्म चेतना में न व्यक्ति है और न समाज वरन् आत्मा ही सर्वस्व है। यहा न आग्रह है और न अपेक्षा, न राग है और न उपेक्षा। निस्सदेह इन प्रवचनों की भावधारा मे पैठकर एक ओर हमारी बुद्धि विकासोन्मुखी होती है तो आत्मा अन्तर्मुखी। फलत अन्तर मे पैठकर हम अनन्त आनन्द व वास्तविक सुख प्राप्त कर सकते हैं।

प्रस्तुत कृति का प्रकाशन स्व श्री मूलचन्दजी पारख [redacted] नोखा की स्मृति मे उनके पुत्रो के अर्थ सौजन्य से हो रहा है, जो अनुकरणीय है। सघ इनके प्रति साधुवाद ज्ञापित करता है।

सकलित प्रवचनों मे निहित आचार्य भगवन् के भावो को यथावत आत्मसात व सम्पादित कर प्राजल शैली में प्रस्तुत किया है श्रीमान शातिचन्द्रजी मेहता ने, जो हार्दिक आभार के अधिकारी हैं।

इसकी प्रस्तुति व प्रूफ सशोधन में प्रदत्त अमूल्य योगदान हेतु श्री उदय नागोरी के प्रति भी हम आभारी हैं।

'अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स' द्वारा अत्यल्प समय मे आकर्षण मुद्रण किया गया है एतदर्थ उनके प्रति भी हम आभार ज्ञापित करते हैं।

पूरा विश्वास है कि प्रवचनो को हृदयगम कर श्रद्धालुजन व स्वाध्यायीगण आत्मचितन/अन्तरावलोकन द्वारा अन्तरचेतना को जाग्रत करते हुए आत्मशुद्धि एव ऊर्ध्वारोहण कर सकेगे।

भवदीय

गुमानमल चोरडिया
अध्यक्ष/सयोजक

सागरमल चपलोत
महामन्त्री

इन्द्रचन्द बैद
सह–सयोजक

भवरलाल कोठारी
उपाध्यक्ष

चम्पालाल डागा
उपाध्यक्ष

सरदारमल काकरिया   केशरीचन्द सेठिया   मोहनलाल मूथा
नेमीचन्द तातेड   कमल सिपानी   सायरचन्द छल्लानी
डॉ सजीव भानावत

(सदस्यगण, साहित्य समिति, श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ)

अर्थ सहयोगी परिचय

आचार्य नानेश के नोखा वर्षावास (स 2033) में प्रदत्त प्रवचन के सकलन 'अपने को समझें' का प्रकाशन लब्धप्रतिष्ठ, सुश्रावक, हुक्म सघ के श्रद्धानिष्ठ अनुयायी स्व श्री मूलचन्द जी पारख की स्मृति में उनके सुपुत्र श्री धर्मचन्द जी पारख के अर्थ सौजन्य से हो रहा है।

धर्मोत्थानी, समाज सेवी, परोपकारी, दानी श्री मूलचन्द जी पारख का जन्म नोखा गॉव के सम्पन्न ओसवाल घराने में हुआ। आपके पिता का नाम श्री जेसराज जी पारख तथा माता का नाम श्रीमती धापु देवी था। दस वर्ष की अल्पायु में ही आप के सिर से पिता का साया छिन गया। आपका पालन-पोषण चाचा श्री केसरीचन्द जी पारख के सानिध्य में हुआ,जो अपने समय के सफल व्यवसायी के साथ-साथ सुप्रसिद्ध समाज सेवी, दानी तथा धर्मपरायण श्रावक थे। आपके घर का वातावरण पूर्णतया आध्यात्मिक एव धार्मिक भावो से ओत-प्रोत था, जिसका प्रभाव बाल्यकाल से ही मूलचन्द जी पर पडना स्वाभाविक ही था। आपकी तीन बहिनें थीं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मालीदेवी (स्वर्गवास सम्वत् 2045 बैशाख सुदी 2) नियमपूर्वक सामायिक करने वाली व सादगी पसन्द थी, जिनसे आपके दो सुपुत्र व दो पुत्रिया प्राप्त हुई। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री मागीलाल जी का सम्वत् 2009 आषाढ सुदी नवम को असामयिक निधन हो गया। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चचल देवी ने इस आघात को सहन कर अपना जीवन धर्म-ध्यान तथा तपाराधना में लगाया। इनकी इकलौती सुपुत्री श्रीमती मगन देवी सॅचेती के दो पुत्र तथा दो पुत्रिया है। इनमें से एक पुत्री ने नानेश सघ में दीक्षा अगीकृत की हैं और महासती श्री सुजाता श्री के नाम से सुज्ञात है। बडे पुत्र के वियोग के लगभग 4 वर्ष बाद इन्हें अपने चाचा श्री केशरी चन्द जी के स्वर्गवास (स 2013) का आघात भी सहन करना पडा।

आपने अपने चाचा श्री केसरीचन्द जी पारख के साथ नोखा मण्डी को बसाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। आप विभिन्न सस्थाओं के सस्थापक/सचालक रहे। श्री जैन जवाहिर भवन, श्री जैन जवाहिर पुस्तकालय, सेठिया धार्मिक भवन, श्री गणेश भवन (नोखा गॉव), श्री चरकडा चोकी प्याऊ (चरकडा) का सचालन, देखरेख का सम्पूर्ण भार आपके कधों पर आश्रित था। आपके सेवा भाव से अभिभूत होकर नोखा के नागरिकों ने आपको सर्वसम्मति से श्री गगा गौशाला, नोखा का अध्यक्ष चयनित किया। आपके 15 वर्षीय कार्यकाल में गौशाला की चहॅुमुखी उन्नति हुई। दुर्भिक्ष के समय गौशाला में आपने चारे की कमी नहीं आने दी तथा तन मन धन से गौसेवा की। श्री किस्तूर चन्द बाहेती धर्मशाला के भी आप ट्रस्टी थे।

आपने अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ (बीकानेर) के उपाध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया। आचार्य श्री नानालाल जी म सा के थली–विचरण के द्वितीय चरण में "क्षेत्रीय सघ" एव श्री 'साधुमार्गी जेन श्रावक सघ नोखा' के अध्यक्ष के रुप मे भी आपने कुशल नेत्तृत्व किया। आप हुकम सघ के विशिष्ठ अनुयायी थे। अपने अथक प्रयासों तथा समाज के सहयोग से वर्तमान आचार्य श्री नानालाल जी म सा का सम्वत् 2033 का चातुर्मास सफलतापूर्वक नोखा सम्पन्न कराया। धर्म के प्रचार प्रसार मे भी आपका अपूर्व योगदान रहा। आपकी यह विशेषता थी कि सभी सम्प्रदाय के साधु सतो की सेवा तन मन धन से करते थे। साधु सतों तथा महासतियो की शिक्षा-दीक्षा पठन-पाठन की ओर आपका विशिष्ठ ध्यान रहता था। आपका व्यक्तित्व अत्यत प्रभावशाली था। 'अतिथि सेवा' का गुण आपमें विलक्षण था।

आप अल्पायु मे ही व्यापार क्षेत्र से अपने चाचा श्री केशरी चन्द जी के साथ जुड गये। नोखा के सदर बाजार में 'केशरी चन्द मूल चन्द पारख' फर्म आज भी बाजार में अपनी विशिष्ठ ख्याति रखती है। अपनी बहिन श्रीमती झकारी देवी (गॉव डेह) के असामयिक निधन के पश्चात आपने अपने चारों भानजों सर्व श्री स्व शिखर चन्द जी, रतनलाल जी, उगमचन्द जी तथा धनराज जी बेताला को (अपने बहनोई स्व श्री झुमरमल जी बेताला सहित) बाल्यकाल से वात्सल्यपूर्वक पालन पोषण कर व्यापा.िक, सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में अग्रणी बनाया।

काफी समय से आपके मन में यह प्रबल आकाक्षा थी कि धार्मिक, सामाजिक तथा जनहितार्थ कार्यो के लिए एक भव्य भवन का निर्माण किया जाये, जिसको मूर्त रूप देने हेतु "श्री केशरी चन्द मूलचन्द पारख चेरिटेबल प्रन्यास" (वि सम्वत् 2037 भादवा सुदी 11 दिनाक 20-09-1980 को स्थापना) के अन्तर्गत आपने भव्य 'पारख गेस्ट हाउस' का निर्माण करवाया।

आपका निधन 7-10-1986 को सथारापूर्वक हुआ। उषाकाल से ही आप सामायिक में थे। आपके निधन से सारे नगर में शोक की लहर दौड गई। आपकी शोक सभा में उपस्थित जनमानस को उमड़ता देखकर ऐसा विदित होता था कि आप समस्त धर्म, वर्ग तथा जातियों मे अत्यत लोकप्रिय थे।

आपके सुयोग्य पुत्र श्री धर्मचन्द जी पारख भी आपके पद्चिन्हों पर चल रहे हैं। आपका जन्म 12-12-1942 को नोखा में हुआ। पिताजी के सभी गुण आपको विरासत में मिले हैं। आपकी आध्यात्मिक रुचि, धर्म-ध्यान, सेवाभावना तथा मिलनसारिता से प्रभावित होकर सघ ने आपका जैन जवाहिर पुस्तकालय के मत्री पद पर चयन किया। अपने कार्यकाल मे आपने पुस्तकालय को स्वावलम्बी बनाया। श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ, नोखा के महामत्री पद को भी आपने सुशोभित किया। वर्तमान में आप श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ नोखा, के अध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं। सेठिया धार्मिक भवन के सचालन की जिम्मेदारी भी अपने पिताजी के स्वर्गवास के पश्चात् सेठिया परिवार

(बीकानेर) ने आपको सौंप रखी है। श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ (बीकानेर) की कार्य समिति के सदस्य के रूप में वर्षानुवर्ष से आप सतत एव निष्काम भाव से सघ सेवा करते आ रहे हैं। इन्हीं कारणों से श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ के 33वें अधिवेशन (बीकानेर) में आपको इनकी विशिष्ठ सेवाओ के लिये सम्मानित किया गया।

सघनिष्ठ श्री धर्मचन्द जी पारख ने अपने पिताजी की स्मृति में "स्व श्री मूलचन्द जी पारख स्मृति स्वाध्याय निधि" की स्थापना की, जिससे प्रतिवर्ष सॉवत्सरिक पर्व पर उत्कृष्ट सेवा प्रदान करने वाले स्वाध्यायियो को पुरस्कृत किया जाता है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमलता देवी पारख भी धर्म-ध्यान, त्याग-तपस्या एव साधु-सन्तों की सेवा में विशेष रुचि रखती है। आप अपनी फर्म को कुशलतापूर्वक सम्भाले हुए है। उन्होने अपने भानजे प्रकाशचन्द बोथरा को अपने मार्ग-दर्शन से सामाजिक एव व्यापारिक क्षेत्र मे उन्नति की ओर प्रशस्त किया है।

आपके दस वर्षीय चि मनीषकुमार को (अपनी साली श्रीमती विमलादेवी बैद से) दत्तक पुत्र के रुप में 17 मई 1990 को विधिवत् अगीकार किया। सुसस्कृत मनीष कुमार अध्ययन करने के साथ-साथ अपने पिता के व्यवसाय मे हाथ बटाता है तथा सामाजिक एव धार्मिक कार्यों में भी विशेष रुचि रखता है।

नोखा वर्षावास के प्रवचनों का द्वितीय पुष्प भाग आपके अर्थ सहयोग से प्रकाशित कर सुधी पाठको के लिये प्रस्तुत है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि आचार्य श्री के प्रवचनों का सग्रह आत्मोत्थान करने में सार्थक सिद्ध होंगे। मानव अपने को समझें और स्वय को पहचाने यही इसका केन्द्रीय सन्देश है। आचार्य भगवन् की अमूल्य वाणी को अपने जीवन में उतारकर अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन करें यही मगल कामना है।

पुन अर्थसहयोगी धर्मचन्द जी पारख के प्रति आभार के साथ।

प्रस्तोता शिवदत्त पाठक
सेवानिवृत्त प्रधानाध्यापक,नोखा

सकलन किसनलाल सँचेती,
नोखा

अनुक्रमणिका

1

राखी का पर्व : धर्म की रक्षा

चेतन जाण कल्याण करन को, आण मिल्यौ अवसर रे
शास्त्र प्रमाण पिछान प्रभु गुण, मन चचल थिर कर रे
श्रेयास जिनेन्द सुमर रे।

विचक्षण व्यक्ति सदा सुन्दरतम अवसर की प्रतीक्षा मे रहते हैं। वे चाहते हैं कि ऐसा सुनहरा अवसर आवे जिसे साध कर जीवन को सार्थक बना लिया जाय।

आप लोग जानते हैं कि आर्थिक दृष्टि से भी व्यक्ति अवसर देखता है। बाहर के सुखो को पाने के लिये तो ससारी व्यक्ति अवसर देखते हैं, लेकिन अपने अन्दर के सुख के कल्याणकारी अवसरो को देखने वाले विरले ही होते हैं। ऐसे विरले प्राणी ही कल्याणकारी अवसर की प्रतीक्षा करते हैं, प्राप्त अवसर का भरपूर सदुपयोग करते हैं तथा जीवन को सार्थक बना लेते हैं।

अवसर की उपस्थिति उल्लास का अनुभव

एक साधक के सामने जब भी आत्म कल्याणकारी अवसर उपस्थित हो जाता है, वह अपने भीतर अपूर्व उल्लास का अनुभव करने लगता है। वह प्रत्येक अवसर पर इसी तत्त्व की खोज करता है। कभी-कभी लौकिक त्यौहार के उत्सव का प्रसग आता है, तब भी वह उसकी आन्तरिकता को छूकर साधना के ही पथ पर प्रमुदित मन बन पग आगे बढाना चाहता है। ऐसा ही त्यौहार आज रक्षाबधन का त्यौहार है।

"उत्सवप्रिया खलु हि जना के अनुसार मनुष्य को उत्सव प्रिय लगते हैं। इसी कारण ऐसे किसी भी प्रसग के निमित्त से उत्सव मना कर वह अवसर को

साधने की कोशिश करता है। भारतवासी रक्षाबन्धन के इस त्यौहार को जिस भावना के साथ मनाते हैं, उस भावना का रूप साकार बने इसी अपेक्षा से वे इसे उत्सव का निमित्त बना कर चलते हैं। त्यौहार की भावना जितनी ऊँची जितनी गहरी होगी, उल्लास का अनुभव भी उतना ही आनन्दकारी होगा।

रक्षाबधन का रहस्य
परहितचिन्तन की भावना

क्या आप कभी इस रक्षाबन्धन के विषय मे चिन्तन करते हैं ? शायद है, कुछ लोगों को छोड कर यही सोचा जाता होगा कि त्यौहार है सो मिष्ठान्न भोजन जीमे, सुन्दर वस्त्र पहिनें, बहिने भाइयो के हाथो पर दस्तूरी राखी बाध ले तथा भाई उसके बदले मे बहनों को कुछ न कुछ उपहार मे दे दे। यह मान ली जाती है रक्षाबधन की सम्पन्नता। इस प्रक्रिया से इसे आप उत्सव तो मान लेते हैं, किन्तु क्या उसमे उल्लास का भी अनुभव करते हैं ?

भारतीय सस्कृति के अनुरूप रक्षाबधन का त्यौहार एक महत्त्वपूर्ण प्रसग होता है। इसके पीछे ज्ञानीजन का जो सकेत है, उसे गहराई से समझने की आवश्यकता है। इससे स्पष्ट होगा कि रक्षाबधन का प्रसग किस मूल धरातल पर है और किस आधार के साथ इस उत्सव का प्रचलन हुआ ? रक्षा बधन के इस रहस्य को कविता की निम्न कडियो मे एक कवि ने प्रकट किया है–

जग सुखकारी देव दुलारी, रक्षा जीवन की श्रेयकारी

है श्रेयकार जगत् मे होता, जय जयकार।
धर्म प्रतीक यह पर्व जो आया, सब जग का हितकार।।

प्राण प्रतिष्ठा इसमें होवे, करे पालन प्रेयकारी।
जग सुखकारी देव दुलारी, रक्षा जीवन की श्रेयकारी।।

किसी भी जीवन की रक्षा को कल्याणकारी कृत्य माना गया है। रक्षा के भाव का दोहरा असर होता है– रक्षित निर्भयता का अनुभव करता है तो रक्षक आत्म सन्तोष के भाव का। इस दृष्टि से रक्षा की भावना को आप परहित चिन्तन की भावना कह सकते हैं। जग का हित करने वाली, देवो को भी प्रिय लगने वाली रक्षा भव्य आत्मा के लिये श्रेयकारी है, प्रेयकारी है।

पर्यूषण पर्व, जन्माष्टमी आदि त्यौहार धार्मिक माने जाते हैं और रक्षाबधन यद्यपि लौकिक त्यौहारों में गिना जाता है, किन्तु रक्षा की दृष्टि से यह धार्मिक त्यौहार का ही एक प्रसग है और इसी भावना से इसकी प्राण-प्रतिष्ठा की जानी चाहिये।

प्राण है रक्षा
धागा है प्रतीक !

वास्तव मे रक्षाबधन के त्यौहार का प्राण है रक्षा का भाव– परहित चिन्तन का भाव और प्रतीक रूप मे इस भाव को बाधा गया है एक धागे मे चाहे इस धागे को आप सादा या सजावटी रूप दे दे। रक्षक की स्थिति समर्थता की होती है तो रक्षित अनुकम्पा का पात्र कहलाता है। इस धागे के प्रतीक के माध्यम से रक्षित और रक्षक के बीच रक्षा का एक पुनीत सम्बन्ध कायम होता है।

वैसे कोरा प्रतीक कुछ नही होता, उसके पीछे क्रियाशील भावना का आधार होना चाहिये। मैं सोचता हूँ– पीछे का इतिहास देखता हूँ तो इस रक्षा बधन को धार्मिक मूल की प्रतिष्ठा करने वाला त्यौहार मानता हूँ। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जब रक्षा को इस त्यौहार का प्राण माना जाय और प्राण प्रतिष्ठा करके इसे जीवन्त त्यौहार बनाया जाय। केवल धागे से काम नहीं चलता। रक्षा का भाव मूल में होगा तो उसका प्रतीक धागा भी सशक्त प्रतीत हो सकेगा।

इस धागे का भी एक इतिहास है। पुराणों के अनुसार देवों और असुरो मे प्रगाढ सघर्ष छिडा। असुरो का अधिपति बलवेन्द्र कहलाता था। उसने ऐसा अनुष्ठान किया जिससे देवेन्द्र का आसन कम्पायमान होने लगा। इन्द्र सोचने लगा कि यदि बलि इस अनुष्ठान से आगे बढ गया तो वह मेरे सिहासन को छीन लेगा। भयभीत हो इन्द्र ने रक्षा का साधन ढूढना चाहा। उसने विष्णुजी के पास पहुँच कर रक्षा की याचना की। इस प्रसग से आप यह भी समझें कि जीवन का मूल धर्म रक्षा में है– हिसा में नही। विष्णुजी ने रक्षा का आश्वासन दे दिया।

रक्षा की उस प्रतिज्ञा को अपना दृढ कर्त्तव्य मानकर विष्णुजी ने बावना रूप धरा और राजा बलि के द्वार पर पहुँच गये। उन्हें बलि का अभिमान खडित करना था, बोले– बलि, इस अनुष्ठान के साथ कोई दूसरी प्रक्रिया भी तू करेगा या नहीं ? गर्वोन्नत बलि ने पूछा– बावने, तू क्या चाहता है ? मैं छोटा सा दान चाहता हूँ, क्या तू दे सकेगा ? बावने ने बलि की ओर देखा। बलि ने जब कहा कि जो मागेगा, वह मिलेगा तो विष्णुजी ने सिर्फ साढे तीन पैर जमीन माग ली। बलि हसा– बेचारा बावना साढे तीन पैर जमीन पाने में ही खुश है– कितनी छोटी बुद्धि है ? बलि के हाँ कहते ही विष्णुजी ने सारे भूमडल को तीन पैरो से नाप लिया और बलि से पूछा कि अब आधा पैर कहाँ रखू ? बलि भौंचक्का रह गया, घबरा कर विष्णु जी के चरणो मे गिर पडा। देवों के प्रति अपनी रक्षा की

प्रतिज्ञा का स्मरण दिला कर आधे पैर मे विष्णुजी ने अभिमानी बलि को पाताल पहुँचा दिया और देवो की रक्षा हुई। इसी रक्षा का धागा प्रतीक बना। जहाँ दुखी का दुख से छुटकारा हो और उसे सुख मिले तो वह त्योहार सुखकारी ही कहलायगा।

धागे का मान
धर्म की रक्षा

रक्षा मे धर्म है तथा धर्म की रक्षा मे ही धागे का मान समाया हुआ है। धर्म की रक्षा मे जीवन की रक्षा, प्राणो की रक्षा तथा सिद्धान्तो व कर्त्तव्यो की रक्षा शामिल है। एक और प्रसग आया है अकपन नाम के एक आचार्य का, जो अपने पॉच सौ शिष्यो सहित भ्रमण करते हुए राजधानी मे पहुँचे। इस राज्य का राजा तो धार्मिक था, किन्तु प्रधान नास्तिक विचारो का था। आचार्य अपनी शिष्य मडली सहित एक बाग मे ठहर ज्ञान ध्यान मे लीन हो गये। एक मुनि भिक्षा के लिये चले गये।

राजा को जब महात्मा के आगमन का पता चला तो उन्होने प्रधान को बुला कर सन्त सेवा मे साथ रहने को कहा। प्रधान ने साधुओ की खिल्ली उडाई और तभी चलने को कहा जब महात्मा उनके प्रश्नो का उत्तर दे दें। राजा ने अधिक आग्रह किया तो यह सोचकर कि कहीं राजा नाराज न हो, प्रधान राजा के साथ बाग की ओर चल पडा।

उधर आचार्य विशिष्ट ज्ञानी थे। अपने ज्ञान मे उन्होने देखा कि राजा के साथ आने वाला प्रधान जिज्ञासु नही होकर कुतर्की है और वह साधुओं के प्रति तिरस्कार की भावना लेकर आ रहा है। उसके कुतर्को मे समय बरबाद न करने का उन्होने निश्चय किया तथा ऐसा ही निर्देश सभी शिष्यो को दे दिया। राजा व प्रधान वहाँ आये तो उन्होने सभी को मौन व्रत की साधना मे लगे हुए पाया। राजा ने श्रद्धा प्रकट की और प्रधान ने उनका उपहास किया।

राजा और प्रधान वापिस लौटे तब राजा तो आगे चले गये, मगर प्रधान अपने साथियो के साथ एक वृक्ष के नीचे ठहर गया। नगर की ओर से वे मुनि वहाँ पहुँचे, जो भिक्षा लेने गये थे तथा जिन्हें आचार्य के निर्देश का ज्ञान नहीं था। प्रधान के मन मे दुर्भावना जागी कि इन्ही मुनि से प्रश्न क्यों न कर लिये जाय। प्रधान ने प्रश्न पूछे और मुनि ने इतने सुन्दर ढग से उत्तर दिये कि प्रधान के साथी प्रभावित हो गये। इसे प्रधान ने अपमानजनक माना और बदला लेने की ठान ली।

मुनि आचार्य के पास गये, उन्होने प्रधान का वृत्तान्त भी सुनाया। आचार्य ने सारी बात समझ कर उन मुनि को रात्रि मे उसी वृक्ष के नीचे ध्यान धरने का निर्देश दिया। आधी रात को प्रधान नगी तलवार लेकर उधर आया। उन्ही मुनि को ध्यानस्थ देख कर वार करने को उसने तलवार उठाई, किन्तु योग से तलवार वाला हाथ ऊपर ही उठा रह गया तो पैर जमीन से चिपक गये। प्रात काल हो गया– मुनि ध्यान मे और प्रधान उस हालत मे। बात सारे शहर मे फैल गई। लोग आये, राजा भी आये। स्थिति देखकर राजा ने प्रधान को देश निकाले का आदेश दे दिया।

प्रधान के मुनियो के प्रति बदले की भावना मे घी पड गया। एक अन्य बडे राज्य मे उसे नौकरी मिल गई तथा उसने अपनी सेवा से वहा के राजा को प्रसन्न कर लिया। राजा ने उसे एक वरदान भी दिया। सयोग से अकपन आचार्य विचरण करते हुए एक बार उस राज्य मे आये। तब प्रधान ने राजा को अपने वरदान का स्मरण दिलाते हुए एक सप्ताह के लिये राज्य के समस्त अधिकार अपने लिये माग लिये। राजा वचनबद्ध था– एक सप्ताह के लिये प्रधान ही राजा हो गया। अधिकार पाते ही प्रधान ने पहली घोषणा की कि राज्य मे कोई धर्मी पुरुष नहीं रह सकेगा– सभी छ दिन मे बाहर निकल जाय वरना सातवे दिन उन्हे जिन्दा जला दिया जायगा। घोषणा सुनकर भी धर्मी पुरुषो ने राज्य नहीं छोडने का निश्चय किया। सातवे रोज यही श्रावणी पूर्णिमा थी, किन्तु बडे सकट के सामने श्रावणी नक्षत्र रात्रि में कापता हुआ चल रहा था। एक सुदूर गुफा मे साधना करते हुए गुरु-चेले की दृष्टि उस कापते नक्षत्र पर पडी तो उनके मुह से निकल पडा– अहो कष्ट, अहोकष्टम्। उन्होने अपने ज्ञान मे उस कष्ट को देखा तथा धर्म की रक्षा करने का निर्णय लिया।

इस शुभ कार्य के लिये गुरु ने चेले को अपनी शक्ति का उपयोग करके उडान भरने और वैक्रिय लब्धियो के स्वामी विष्णुकुमार मुनि के पास पहुँच सकट को टलाने की सलाह दी ताकि सूर्योदय के पहले ही सकट टालने की व्यवस्था हो सके। दोष के लिये फिर प्रायश्चित करने का भी निर्देश दे दिया। चेले ने विष्णुकुमार मुनि को सारी स्थिति बताई। ये मुनि राजा के छोटे भाई ही थे। मुनि ने बाल रूप धारण किया तथा अपने भाई के पास लब्धि बल से पहुँच गये। भाई से उन्होने इस अकार्य की उलाहना दी। फिर मुनि ने प्रधान से अधिकार के नाते अपने लिये स्थान मागा और वह केवल साढे तीन पैर जमीन । फिर वही हुआ जो हाल राजा बलि का हुआ था। यहाँ धर्मी जीवन की रक्षा का प्रण करा कर प्रधान को जीवन दान दे दिया गया।

ससार में बल की शक्ति एक बात है, किन्तु आध्यात्मिक शक्ति का धर्म की रक्षा मे प्रयोग महान होता है।

एक प्रसग और--
करुणावती और हुमायू का।

देवत्व की रक्षा हो, धर्म की रक्षा हो अथवा स्त्रीत्व की रक्षा हो-- रक्षा का प्रसग सदा पवित्र होता है। रक्षा के धर्म की रक्षा की-- इसलिये यह धर्म की रक्षा का त्यौहार रक्षाबधन है और उस धर्म का बाहरी चिन्ह है धागा। सोचिये कि बहिने भाइयों के राखी क्यो बाधती हैं ? वे इसलिये आती हैं कि जब भी उनके जीवन पर कोई सकट या दु ख आवे तो उसका निवारण करने के लिये वे भाई वीरता का रूप धारण करें तथा उनकी रक्षा के लिए आगे बढे। आज के भाई राखी बधा लेगे-- काचली कपडा दे देंगे ओर दो दिन बाद भूल जायेगे कि उनकी बहने किन-किन दु खो से घिर जाती हैं तथा रक्षा की उनकी जिम्मेदारी क्या है ? इस सम्बन्ध मे आधुनिक युग का एक प्रेरक प्रसग याद आ गया है।

चित्तौड दुर्ग पर महारानी करुणावती राज्य कर रही थी, उस समय गुजरात के बहादुरशाह ने बडी फौज के साथ किले को चारो ओर से घेर लिया। उसे बडा सकट जानकर महारानी ने गुप्तचर के साथ बादशाह हुमायू को राखी भिजवाई तथा रक्षा के लिये आह्वान किया। हुमायू मुसलमान था, मगर राखी के उन धागों ने बादशाह के दिल को पिघला दिया। वह बग विजय के लिये जा रहा था, उसे स्थगित करके उसने अपनी फौज बहिन करुणावती की रक्षा के लिये मेवाड की ओर मोड दी। यह राखी के ही धागे का विचित्र प्रभाव था।

इतिहास में ऐसे एक नही, कई उदाहरण मिलेंगे, जब रक्षा बन्धन के साथ कठोरता से कर्त्तव्य का निर्वाह किया गया। आप भी याद रखे कि जिस हाथ को राखी बधाने के लिये लम्बा करते हैं, उसे कर्त्तव्य निभाने के समय छोटा न कर ले।

आप किसकी रक्षा करे ?
कौन आपकी रक्षा करेगा ?

क्या यहाँ पर बैठने वाले भाई राखी बधवायेंगे ? यदि रक्षा बधन की स्थिति से आप सावधान हैं तो राखी धार्मिक प्रक्रिया से बाध सकते हैं। आप किसकी रक्षा करें-- इस प्रश्न पर भी आप सोचे। सबल सदा दुर्बल की रक्षा

करता है तो क्या चौरासी लाख जीव योनि मे आपसे दुर्बल प्राणी नहीं है ? क्या छ काया के जीव आपसे रक्षा की माग नहीं करते ? आप मे जिनकी रक्षा का सामर्थ्य है, आप यदि उनकी रक्षा नहीं करते तो क्या आपका रक्षाबधन का उत्सव सार्थक है ? अपनी समस्त शक्तियों से रक्षा का कार्य करें– यही राखी का सन्देश है।

किन्तु क्या बताऊ, मेरे भाई उतावले होकर दवात कलम के राखी बधवाते– तो तोलने के काटे के राखी बधवाते हैं और न जाने कैसी-कैसी परम्पराएँ चलाते हैं। मैं उनसे पूछू कि क्या काटा उन की रक्षा करेगा ? सोचिये कि कौन आपकी रक्षा करेगा ? धर्म आपकी रक्षा करेगा और इसलिये धर्म को– कर्त्तव्य को अपने जीवन में प्रधानता दीजिये। तब काटा भी कहेगा कि नैतिकता के साथ पूरा-पूरा तोलोगे, तभी रक्षा होगी और बेईमानी करोगे तो रक्षा नहीं होगी। किन्तु कर्त्तव्य को छोडकर जब वर्ण व्यवस्था मे ऊँचे कहलाने वाले भाई भी मास भक्षण करते हैं तो बडा विचार होता है कि रक्षा का भाव किस तरह भुला दिया गया है ?

मैं उडीसा प्रान्त मे विहार कर रहा था तब एक ब्राह्मण भाई मेरे पास आये और कहने लगे– महाराज, यहाँ के देहाती बडे दुष्ट हैं, सभी जीवों का मास खाते हैं। मैं ब्राह्मण हू सो बच गया हूँ। मैं केवल कबूतर का मास खाता हूँ। मुझे बडा विचार हुआ और मैंने उन्हें समझाया कि रक्षा सभी जीवो की करनी चाहिये। रक्षाबधन के प्रति व्यापक रूप से रक्षा के कर्त्तव्य का बोध कराया जाना चाहिये।

पर-हित चिन्तन को व्यापक बनाइये !

आज अच्छा प्रसग है, आप मेरे से राखी बधायेंगे क्या ? आप हस पडे कि मैं साधु होकर राखी बाधूगा– भाइयों, प्रतीक रूप में नहीं, चैतन्य रूप मे क्या आप मुझसे राखी बधवाने को तैयार हैं ? आपको रक्षा रूप धर्म की रक्षा के लिये सन्नद्ध बनना चाहिये। इसके लिये छोटे-छोटे दायरो को लाघकर सारे प्राणी समाज को एक बडे दायरे मे देखना चाहिये तथा पर-हित चिन्तन को अधिक से अधिक व्यापक बनाना चाहिये।

सन्तो के भी राखी बाधने का अर्थ है उनके सन्त जीवन की सुरक्षा का ख्याल रखना। श्रावक-श्राविकाओ को इसी दृष्टि से 'अम्मा पियरा' की उपमा दी गई है। ऐसी स्थिति मे सत लोग वीतराग वाणी से आपके राखी बाधना चाहते हैं और कहना चाहते हैं कि हे माता-पिता की उपमा लेने वालो, सन्त जीवन की

रक्षा करने मे मददगार होना। अन्न, जल, औषधि का योग आप देते हैं किन्तु असल योग है सन्त जीवन को पग-पग पर प्रेरणा देना, ताकि ढीली मर्यादाएँ न पनप सके। माईक का उपयोग करो या अन्य सवारी आदि के वैज्ञानिक साधनो का प्रयोग करो या विदेशो मे जाकर प्रचार करो– ऐसा कहने वाले कौन लोग है ? क्या श्रावक श्राविका ही नहीं है ? सन्त जीवन की रक्षा का अर्थ है कि सन्तो को ऐसे खड्डों मे नही गिरावे। सन्त जीवन पवित्र होता है और उसे कठोर मर्यादाओ मे पवित्र रखने मे मददगार होना चाहिये। सन्तों का जीवन जितना मजबूत रहेगा, पर-हित चिन्तन की भावना को भी उतना ही अधिक बल मिलेगा।

मर्यादाओ की नाव मोक्ष की मजिल

विषय विकारो के इस ससार सागर मे जो इन आत्मोत्थानकारी मर्यादाओ की नाव मे बैठता है, वही अपने सयमी जीवन को सुरक्षित रखते हुए मोक्ष की मजिल की तरफ आगे बढ सकता है। इस चतुर्विध सघ मे साधु-साध्वी निरन्तर उपदेश देते हुए श्रावक श्राविकाओं को उनकी मर्यादाओ का बोध कराते रहते हैं तो श्रावक-श्राविकाओ का भी कर्त्तव्य है कि वे साधु-साध्वियो को भी उनकी मर्यादाओ के पालन मे प्रेरणा देते रहे– उन्हे मर्यादाओ से बाहर निकलने को नहीं उकसावे। रक्षाबधन पर्व की लौकिकता के साथ इस धार्मिकता को निभाना चाहिये ताकि जीवन के प्राणो से लेकर सद्गुणों की रक्षा की सुव्यवस्था की जा सके। सर्वत्र धर्म की रक्षा हो– यह राखी के पर्व का मार्मिक सन्देश है।



2

अन्तर्चक्षुओं का ऑपरेशन

तू अधिकार विचार आतम गुण
भ्रम जजाल न पर रे।
पुदगल चाह मिटाम विनम चन्द
तू जिन ते न अवर रे।
श्रेयास जिनन्द सुमर रे

आत्म कल्याण के अवसर को किसी भी तरह हाथ से न निकलने देने की दृष्टि से कवि विनयचन्दजी शास्त्रीय सकेतो को लेकर के कविता के माध्यम से भव्यजनो को सम्बोधित कर रहे हैं। इस आत्मा ने अनादिकाल से चौरासी लाख योनियो में परिभ्रमण किया है– विविध प्रकार के कष्टो को सहन किया है, लेकिन अभी तक उन कष्टो मे से बाहर निकलने का रास्ता उसे नही सूझ रहा है।

आप जानते हैं कि अधे व्यक्ति को मार्ग नहीं दीखता है। कोई व्यक्ति अधा कब कहलाता है ? जब उसके पास नेत्रों की ज्योति नही होती और नेत्रो मे जब ज्योति नही होती जब नेत्र पर मोतियाबिन्दु जम जाय या कोई जाला चढ जाय याने कि कोई ऐसा आवरण दृष्टि पथ पर जाय जिससे ज्योति निस्तेज हो जाय। जिसके नेत्रो की ज्योति चली जाती है, उसको अधपेन मे इधर उधर दीवारो से ठोकरे खानी पडती है तथा जरा सा चूक जाय तो गटर या गड्ढे मे गिर पडने की आशका बनी रहती है। ऐसे नेत्रो का यदि सफल ऑपरेशन हो जाय तो ज्योति वापिस आ सकती है।

इसी प्रकार जिसके भीतर के नेत्र– हृदय के चक्षु ज्योतिहीन हो रहे हो, उसकी अवस्था तो निकृष्टतर होती है। बाह्य चक्षुओ का अन्धापन निकालना तो फिर भी आसान है, लेकिन अन्तर्चक्षुओं का अन्धापन तो इस दुर्लभ मानव-जीवन

का ही सत्यानाश कर देता है। इस दृष्टि से अन्तर्चक्षुओ का ऑपरेशन बडा कठिन है और उसके लिये सुयोग्य डॉक्टर ढूढना और भी ज्यादा कठिन है, फिर भी अन्तर्चक्षुओ का भी यदि सफल ऑपरेशन बन पडे तो उनकी ज्योति प्रदीप्त बन कर स्व-पर के जीवन को प्रकाशमान बना सकती है।

अन्धापन बाहर का
और अन्धापन भीतर का

जानते हैं, प्रज्ञा चक्षु किसको कहते हैं, वह व्यक्ति जिसके बाह्य नेत्र भले बन्द हो, लेकिन जिसके अन्तर्चक्षु खुले हुए हों। भीतर उनके अन्धापन नहीं हो तो बाहर का अन्धापन जीव विकास की दृष्टि से बाधक कतई नहीं होता है बल्कि जीवन विकास का विशिष्ट रूप से सहारा बन जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रज्ञा चक्षु कहा जाता है। वह अकेला बाहरी आखों के हजारों सूझतों से श्रेष्ठतर होता है।

परन्तु भावो से– अन्तर्दृष्टि से जिसका अन्धापन है, उनका जीवन तो शून्य समान होता है। वैसा व्यक्ति शरीर की भले ही सुव्यवस्था रखले, इन चर्म चक्षुओ की रोशनी को चमकती हुई रहने दे, लेकिन केवल चर्म चक्षुओं की रोशनी से वह आत्म कल्याण के पवित्र पथ को देख नहीं पाएगा, जब तक कि भीतर के ज्ञान चक्षु न खुलें। भीतर का अन्धापन दूर होते ही वह पथ सहज ही में दिखाई दे सकता है।

बाहर का अन्धापन जैसे मोतियाबिन्दु, जाला या किसी प्रकार के रोग से पैदा होता है और उस रोग के कारण आखों की रोशनी पर एक प्रकार का आवरण छा जाता है, जिसकी वजह से रोशनी उस आवरण के भीतर दब जाती है तथा बाहर से आख अधी हो जाती है। उसी प्रकार भीतर का अन्धापन भी आवरण के कारण ही पैदा होता है। अन्तर्चक्षु पर ये आवरण दो प्रकार के होते हैं– एक अज्ञान का तो दूसरा अविद्या का। ये दोनों अवस्थाएँ भाव नेत्रों की ज्योति को ढक देती हैं। जिस प्रकार मोतियाबिन्दु आख की कीकी पर छाकर उसकी ज्योति को ढक देता है, उसी प्रकार अन्तर्चक्षुओं के लिये अज्ञान और अविद्या की अवस्थाएँ मोतियाबिन्दु के समान होती हैं।

जैसे चतुर नेत्र चिकित्सक मिले तो ही मोतियाबिन्दु का ऑपरेशन सफलतापूर्वक किया जा सकता है, वैसे ही ज्ञानी गुरु मिले तथा वे अज्ञान और अविद्या को दूर करने का मार्ग दिखावें तो भीतर की आखों मे प्रकाश की रेखाएँ चमक सकती हैं।

अन्तर्दृष्टि कैसे लुप्त हुई, फिर से कैसे प्राप्त हो सकती है ?

ज्यों-ज्यो मन, वचन और काया के योग-व्यापार पर अज्ञान एव अविद्या का आवरण चढने लगा और उस आवरण को हटाने के बारे मे असावधानी छाई रही तो धीरे-धीरे अन्तर्दृष्टि धुधली पडने लगी। जितना अज्ञान और अविद्या का घनत्व बढता गया, अन्तर्दृष्टि लुप्त होती चली गई। अन्तर्दृष्टि के प्राय करके लुप्त हो जाने के बाद चेतना शक्ति अकर्मण्य जैसी बन जाती है तथा पर-पदार्थो का अधा नियत्रण आत्मा की गतिविधि पर इस रूप में जम जाता है कि आत्म शक्ति की स्वाधीनता करीब-करीब नष्ट सी हो जाती है। जितनी आत्मा की परतत्रता है, वही अन्तर्दृष्टि का लुप्त हो जाना है तथा भीतर का अधापन फैल जाना है।

ससारी आत्माओ की लुप्त अन्तर्दृष्टि के साथ एक जिन्दगी ही नहीं, जिन्दगियों पर जिन्दगियॉ बीत जाती है और अन्तर्दृष्टि पुन नहीं लौटती, जब तक कि चतुर चिकित्सक के हाथों उसके सफल ऑपरेशन का सयोग नहीं बैठता है। अपनी आत्मा के लिये ही विचार करे कि कितने जन्म अब तक इसने ले लिये हैं– क्या कोई हिसाब है ? किसी को पता नहीं कि कितने जन्म लिये। हॉ, यह पता है कि अनन्त काल से जन्म मरण का चक्र चल रहा है और चौरासी लाख योनियो मे इस आत्मा का आवागमन होता रहा है। इसके साथ ही यह भी पता नहीं है कि इस आत्मा को आगे और कितने जन्म लेने पडेंगे ? यह ज्ञानी ही अपने ज्ञान मे देख सकता है, छद्‌मस्थ का वह सामर्थ्य नहीं होता है। लेकिन एक बात अवश्य है कि यदि कोई ऐसे ज्ञानी पर अटूट विश्वास रखता है और अपनी श्रद्धा को कभी भी टूटने नहीं देता तो उस प्रकार की श्रद्धा के बल पर भी अन्तर्दृष्टि के आवरण हट जाते हैं। ज्ञानीजनो का सकेत है कि "सद्धा परम दुल्लहा" अर्थात् सच्ची श्रद्धा परम दुर्लभ होती है।

तो लुप्त हुई अन्तर्दृष्टि फिर से प्राप्त हो सकती है सच्ची श्रद्धा के प्रभाव से। यह श्रद्धा सच्ची तभी कहलायगी जब उसका प्रवेश भीतर तक होगा– आत्म प्रदेश मे जब वह व्याप्त हो जायगी। केवल ऊपर से मान्यता दिखा देना श्रद्धा नहीं कहलाती है। सच्ची श्रद्धा के प्रभाव से अन्तर्चक्षुओं का मोतियाबिन्दु कट जाता है और ज्यो-ज्यो अन्तर्चक्षुओं की ज्योति तेजस्वी बनती जाती है, त्यों-त्यों श्रद्धा का रूप भी अधिकाधिक प्रभावशाली बन कर आत्म कल्याण का प्रेरक होता जाता है।

अन्तर्चक्षुओ के मोतियाबिन्दु– अज्ञान और अविद्या

बाहर के नेत्रो पर भी दो तरह के मोतियाबिन्दु आते हैं। क्या कभी आपने डॉक्टर से सुना है कि ये मोतियाबिन्दु किस प्रकार के होते हैं तथा उनका ऑपरेशन होने पर आखो मे रोशनी कैसे आती है ? मैंने डॉक्टर से सुना है कि आख की कीकी पर यदि श्वेत मोतियाबिन्दु हो और उसको ऑपरेशन से हटा दिया जाय तो जल्दी रोशनी आ सकती है। लेकिन आख की कीकी पर अगर काला मोतियाबिन्दु छाया हुआ हो तो स्थिति बडी कठिन हो जाती है। मुझे तो ऐसा याद पडता है कि काले मोतियाबिन्दु का ऑपरेशन भी कठिन होता है तथा उसके ऑपरेशन के बाद भी यथावत् रोशनी आ जाय– ऐसा मुश्किल से ही होता है।

वैसे ही आत्मा के अन्तर्चक्षुओ पर श्वेत मोतियाबिन्दु रूप आवरण होता है अज्ञान का आवरण। अज्ञान की क्या परिभाषा ? जिसको आत्मा सम्बन्धी ज्ञान न हो, जो परमात्मा को नही समझ पाया हो तथा जिसे यह भी मालूम नही हो कि परलोक क्या है तथा उसे वर्तमान जीवन कैसे मिला व उसका सदुपयोग कैसे करना चाहिये तो समझिये कि वह आत्मा अज्ञानी है। सक्षेप में, जीवन कल्याण के मर्म को न समझ पाना अज्ञान है।

अन्तर्चक्षुओ पर जब अज्ञान का मोतियाबिन्दु चढा हुआ हो तो वैसा व्यक्ति जीवन कल्याण के प्रति बेभान होता है। वह बाह्य पुद्‌गलों के आनन्द को ही सच्चा आनन्द मानकर भ्रान्ति के जाल में फसा हुआ पडा रहता है। उसकी प्रवृत्ति येन केन प्रकारेण धन कमाने, उससे शरीर सुख प्राप्त करने तथा विषय वासनाओं में रमण करने की रहती है। दुनिया के नक्शों में ही वह उलझा हुआ रहता है। इसी उलझन मे वह अपने जीवन की इतिश्री समझ लेता है।

ऐसा अज्ञान अन्तर्चक्षुओं पर जो छाया रहता है, वह ऐसा नही होता जिसकी चिकित्सा आसानी से न की जा सके। चिकित्सक जब किसी के ऐसे अज्ञान को समझ जाता है तथा रोगी उस चिकित्सक से अपनी चिकित्सा कराना स्वीकार कर लेता है तो उस अज्ञान रूपी श्वेत मोतियाबिन्दु का ऑपरेशन सफलतापूर्वक हो सकता है तथा उन अन्तर्चक्षुओ मे ज्ञान की ज्योति दीप्तिमान बन सकती है। चिकित्सक की चतुराई तथा रोगी का विश्वास– दोनों ऐसे सफल ऑपरेशन के लिये जरूरी होते हैं। पूर्ण श्रद्धा से रोगी को वैसे चिकित्सक के सुपुर्द हो जाना चाहिये। तब अज्ञान हट जाता है और ज्ञान का प्रकाश भाव नेत्रो मे फैल जाता है।

श्रद्धा की प्रगाढ़ता से भी अज्ञान का विनाश

प्रत्येक आत्मा मे इतनी शक्ति कठिनता से ही आती है कि वह अज्ञान एव ज्ञान के स्वरूप आदि सभी बातो की स्वय जानकारी करे, अपने सही चिकित्सक को पहिचान ले तथा ऑपरेशन की विधि व उसके परिणाम को समझ जावे। इसके लिये दूसरा रास्ता यह है कि जो इस विषय के विशिष्ट ज्ञाता महात्मा हैं, उनकी चरण शरण मे वह समर्पित हो जावे तथा प्रगाढ श्रद्धा के साथ उनके निर्देशों का अनुसरण करे। ऐसी श्रद्धा की अगर भव्य प्रगाढता बन जाय तो उसके सुप्रभाव से भी अज्ञान के आवरण का विनाश हो सकता है तथा अन्तर्दृष्टि प्रकाश पूर्ण बन सकती है। वह चाहे अक्षर ज्ञान अधिक प्राप्त नहीं कर सके लेकिन प्रगाढ श्रद्धा से उसका हृदय अभिभूत बन जाय तो वह मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है बल्कि जानकारी रखने वाले की अपेक्षा भी प्रगाढ श्रद्धा रखने वाला पहले मोक्ष मे चला जाता है।

शास्त्रो मे वर्ण नाग नथुआ का वर्णन आया है। वह सामन्त होते हुए भी भगवान् महावीर का बारहव्रतधारी श्रावक था। वह बेले बेले पारणा करता था अर्थात् दो दिन उपवास रखता, फिर एक दिन भोजन करता तथा यही क्रम चलता रहता। उस श्रावक पर उसी का एक बाल गोठिया (बचपन का मित्र) बडी श्रद्धा रखता था यह सोचकर कि वह तो अज्ञानी है लेकिन नाग नथुआ बहुत ही सुज्ञ है। नाग नथुआ ज्ञानी है– इसी विचार से उसके प्रति उसकी पूर्ण श्रद्धा थी।

दोनो मित्र सैनिक कौशल मे प्रवीण थे। उस समय मे गणराज्य विद्यमान थे तथा अठारह गणराज्यों के नामक थे चेटक महाराज, जो बारह व्रतधारी श्रावक थे। नीति और अनीति के प्रसग से एक बार उनके व कुणिक के बीच मे युद्ध छिडा तो चेटक महाराज ने नाग नथुआ को भी आमन्त्रित किया और समझाया कि बारह व्रतो के पालन के बावजूद वह गृहस्थी है और जब कोई आक्रान्ता अनीतिपूर्वक अपने देश पर आक्रमण करे तो प्रत्येक गृहस्थी-नागरिक का कर्त्तव्य होता है कि वह अपने देश की– नीति की रक्षा के लिये आक्रान्ता का प्रतिकार करे और यह कर्त्तव्य बारह व्रतधारी श्रावक पर भी लागू होता है। नाग नथुआ ने मन मे सोचा कि यद्यपि अपनी वर्तमान निर्लिप्त अवस्था मे वह साधु धर्म अगीकार करने की तैयारी कर रहा है फिर भी साधु बना नही हैं तथा आक्रान्ता के प्रतिकार करने का अवसर आ गया है अत चेटक महाराज का

निमत्रण स्वीकार करना आवश्यक है। उस ने चेटक महाराज से कहा– मैं आपके निमत्रण को स्वीकार करता हूँ क्योकि कोई यह न समझे कि वीतराग प्रभु का श्रावक कायर होता है।

तब चेटक महाराज की ओर से नाग नथुआ तथा उसका बाल गोठिया भी युद्ध के मोर्चे पर पहुँच गये।

श्रद्धापूर्वक अनुसरण से अनन्त ज्ञान के प्रकाश मे

जब युद्ध शुरू हुआ तो नाग नथुआ ने प्रण कर रखा था कि जब कोई पहले मुझ पर वार करेगा तब ही मैं भी वार करूगा। इस प्रकार युद्ध का क्रम चलने लगा। लडते-लडते अचानक शत्रु पक्ष का एक बाण नाग नथुआ के मर्म स्थल पर लग कर शरीर के भीतर धुस गया। उसे प्रतीत हुआ कि अब जीवन बचेगा नही। यह सोचकर अन्तिम आलोचना क्रिया हेतु घोडे को जल्दी-जल्दी युद्ध स्थल से कुछ दूर एकान्त जगल में वह ले गया तथा वहाँ घास पर ध्यानस्थ बैठकर आत्मलोचना करने लगा। उधर उसके बाल गोठिया के साथ भी वैसा ही घटित हुआ। यद्यपि उस को कोई धार्मिक ज्ञान नहीं था, लेकिन उसने नाग नथुआ को एक ओर जाते हुए देख लिया था, अत वह भी उसी दिशा मे जल्दी-जल्दी आगे बढ गया तथा जिस तरह नाग नथुआ ध्यानस्थ बैठा हुआ था, वह भी अत्यन्त श्रद्धाभाव के साथ शान्तिपूर्वक उसी रूप मे ध्यानस्थ बैठ गया। उसमें धार्मिक ज्ञान का अभाव था अत ज्ञानपूर्वक आलोचना करने का उसके लिये प्रसग नहीं था, हाँ उसकी श्रद्धा अत्यन्त प्रगाढ थी कि जैसा ज्ञानी नाग नथुआ कर रहा है, वह उसका परम श्रद्धापूर्वक अनुसरण कर रहा है।

उस परम श्रद्धा के सुप्रभाव के बारे में शास्त्रकारों ने सकेत दिया है कि उस बाल गोठिया को नाग नथुआ से भी पहले मोक्ष हो गया अर्थात् वह अनन्त ज्ञान के प्रकाश मे चला गया।

यह क्या था ? प्रगाढ श्रद्धा का सुप्रभाव। अज्ञान में चलते हुए भी ज्ञानी पर उसकी परम श्रद्धा थी और श्रद्धा के कारण वह ज्ञानी का यथावत् अनुसरण करने मे विश्वास रखता था। और इस प्रकार की श्रद्धा का ऐसा सुप्रभाव हुआ कि वह अपने ज्ञानी मित्र की मुक्ति के पहले ही स्वय मुक्त हो गया। इस का कारण होता है कि श्रद्धा ज्ञान की अनुगामिनी बन कर स्वय ज्ञानमयी हो जाती है। बाहर से यह प्रतीत नहीं होता है कि वह ज्ञान किस रूप में है लेकिन ज्ञान उस श्रद्धा का मार्गदर्शक हो जाता है और तभी श्रद्धा उसे अनन्त ज्ञान के प्रकाश में पहुँचा देती है।

५०८६

लेकिन अविद्या का मोतियाबिन्दु काला मोतियाबिन्दु होता है

लेकिन जिस आत्मा में जितना मिथ्यात्व होता है, वह अविद्या रूप होता है और यह अविद्या जितनी गाढी होती है, उतनी ही उस आत्मा की अधिक दुर्दशा होती है। अविद्या का मोतियाबिन्दु काले मोतियाबिन्दु के समान होता है जिसके लिये योग्य चिकित्सक मिलना भी कठिन तथा उपयुक्त चिकित्सा का सयोग जुट जाना भी कठिन माना जाता है। अविद्या के काला मोतियाबिन्दु का सफल ऑपरेशन होकर अन्तर्चक्षुओ को यथायोग्य प्रकाश प्राप्त हो जावे– यह बडी कठिनता से प्राप्त होने लायक अवस्था मानी गई है।

अज्ञान और अविद्या मे अन्तर होता है। अविद्या मे विद्या तो होती है याने कि कोई बुद्धि की दृष्टि से अनेक तरह की विद्याएँ सीख ले, दुनिया भर की पुस्तको का अध्ययन करले, लेकिन आत्मा परमात्मा तथा धर्मकरणो में विश्वास नही होने से वास्तविक जीवन की दृष्टि से वह शून्य ही रह जाता है। ऐसा व्यक्ति विद्याएँ जानते हुए भी अविद्याधारी कहा जाता है और मिथ्यात्व के कारण उस अविद्या से छुटकारा मिलना भी कठिन होता है। आध्यात्मिक मार्ग से अनभिज्ञ एव उसके प्रति अश्रद्धावान् रहने के कारण वह सारी विद्या कालिमामय अविद्या का ही रूप होती है क्योंकि उससे आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त नहीं बनता है। श्रद्धापूर्ण अज्ञान अच्छा लेकिन मिथ्यात्वपूर्ण अविद्या बडी खतरनाक होती है। इस अविद्या को दूर करने के सम्बन्ध में प्रार्थना मे सकेत दिया गया है कि–

" सहज मिटे अज्ञान अविद्या,
मुक्ति पथ पग भर के।
श्रेयास जिनन्द सुमर दे

यदि तू श्रेयास जिनेन्द्र का स्मरण करेगा याने कि परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करेगा तो अज्ञान भी मिट सकता है तथा अविद्या भी सहज रूप मे मिट सकती है अन्तर्चक्षुओ पर से जब श्वेत और काला– दोनों प्रकार के मोतियाबिन्दु हट जावेगे तो भीतर के नेत्र खुलकर ज्ञानमय प्रकाश से चमक उठेंगे। तब अवश्य ही मुक्ति पथ पर चरण आगे बढ सकेंगे।

अन्तर्चक्षु खुलेगे, तभी मुक्ति पथ पर प्रगति होगी

मुक्ति पथ पर प्रगति करने के दो ही उपाय हैं कि या तो स्वय ज्ञानी बनो अथवा अटूट श्रद्धा के साथ ज्ञानी का अनुसरण करो। जिसका अनुसरण करो वह परखा हुआ ज्ञानी हो और तब उस की आज्ञा का पालन करना ही अपना परम धर्म मान लो। इन दोनो विधियों से अन्तर्चक्षुओ का ऑपरेशन सफल बन सकता है तथा आत्मा को अनन्त ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो सकता है।

श्रद्धापूर्वक अनुसरण से भी आत्मा का किस रूप में उद्धार हो जाता है, उस के बारे मे एक दृष्टान्त ध्यान मे आ गया है। एक व्यक्ति को फासी लगाई जाने वाली थी और वह फासी के तख्ते पर खडा हुआ था। वहाँ से वह चिल्लाया कि उसे जोर से प्यास लगी है, कोई उसको पानी पिलावे। राज्य भय से कोई व्यक्ति उसे पानी पिलाने के लिये आगे नहीं बढा तो महावीर भगवान् का एक श्रावक दया भावना को लेकर उसके पास गया।

किसके पास गया ? उस अपराधी के पास जो फासी के तख्ते पर खडा था, आखिर फासी की सजा उसके अपराध के कारण ही तो मिल रही थी। उसे पानी की चाह थी। कल एक ब्राह्मण भाई ने यही प्रश्न किया था कि क्या ऐसे पापी को पानी पिलाने से पाप नहीं लगेगा ? मैंने कहा था कि वैदिक सस्कृति सहित दुनिया के सारे धर्म मरते हुए प्राणी को सान्त्वना पहुँचाने में पाप नहीं मानते हैं, बल्कि यह कहना चाहिये कि करुणा भाव से किये गये ऐसे कृत्य में निन्यान्वे रुपया निन्यान्वे पैसा धर्म मानते हैं। एकाध मत वाले इसको पाप मानते हैं जो आटे में नमक जितने है तथा जिन की मान्यता वीतराग वाणी के अनुकूल नही है। हाँ तो वह महावीर भक्त उस अपराधी के पास गया तथा उससे बोला– मैं तुम्हारे लिये पानी लेकर आता हूँ तब तक तुम परमोद्धारक णवकार मत्र का जाप करो। उसने 'णमो अरिहताण' आदि मत्र उसे बता दिया। वह अज्ञानी था किन्तु दया भाव से उसका हृदय द्रवित हो गया और उसकी उस महावीर भक्त के प्रति प्रगाढ श्रद्धा हो गई। उसी श्रद्धा भावना से वह गिनने लगा– आणू ताणू मैं कुछ नहीं जाणू, सेठ वचन परमाणे जाणू, कारण णवकार मत्र तो वह भूल गया। ऐसा रहते-रहते उसके प्राण निकलने का प्रसग आ गया और उसको उच्च योनि का आयुष्य बध गया।

ऐसा धर्म जो पापी के पाप को नहीं देखता, उसके उद्धार का मार्ग खोलता है, उसके प्रति प्रगाढ श्रद्धा भी तारने वाली बन जाती है। उसके अन्तर्चक्षु खुल जाते हैं।



3

क्या पानी को मथकर मक्खन निकाल सकेंगे ?

चेतन जाण कल्याण करण को
आण मिल्यौ अवसर रे।
शास्त्र प्रमाण पिछाण प्रभु गुण
मन चचल थिर कर रे।
श्रेया जिनन्द सुमर रे

प्रार्थना के माध्यम से आत्मा की परम पवित्र दशा का स्मरण कराया जा रहा है। ससार में रहने वाली आत्माएँ अपने मूल स्वभाव से हट कर विभाव की ओर मुडती हैं। यह विभाव है पर पदार्थो से आकर्षित बनना और उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना तथा उन पर पदार्थो मे सुख व शान्ति की खोज करना। ऐसी आत्माएँ निज स्वरूप से अपना ध्यान हटा लेती है और परिणामस्वरूप इस सासारिकता में उलझ जाती है तथा उसमे गोते खाती रहती हैं।

कोई व्यक्ति पानी को मथकर मक्खन निकालने का प्रयत्न करे तो क्या उसका प्रयत्न सफल बन सकेगा ? पर-पदार्थो मे रमण करते हुए कोई आत्मिक तत्त्व की उपलब्धि कर सके— यह शक्य नहीं है। पानी में से सीधा मक्खन नहीं निकाला जा सकता है। यह दूसरी बात है कि पानी को मक्खन निकालने का साधन बनाया जा सकता है। वैसे ही ससार के दृश्य पदार्थो से शान्ति प्राप्त नही की जा सकती है, लेकिन उनको किसी रूप मे शान्ति के साधन बना सकते हैं, यदि उन पदार्थो का रूपान्तरण करने वाला चतुर व्यक्ति हो। पानी को विधिवत् उपयोग मे लाने वाला व्यक्ति ही मक्खन या अन्य तत्त्वो की उपलब्धि मे उसकी सहायता ले सकता है। उसी प्रकार ससार के दृश्य पदार्थो के स्वरूप को पहिचान कर विधिवत् गति करने वाला व्यक्ति ही इन बाह्य पदार्थो को यथायोग्य रूप मे, शान्ति के साधन बना सकता है, बल्कि बाह्य पदार्थो के स्वरूप

पर चिन्तन करते-करते आत्म स्वरूप का सार भी पा सकता है।

सासारिक जजालो की उलझन मिटे तो आत्म स्वरूप का मक्खन दिखाई दे

जो आत्मा अपने स्वरूप के विज्ञान को ही नही समझती अथवा समझने की चेष्टा भी नहीं करती तो मानना चाहिये कि वह सासारिक जजालो की उलझन में फसी हुई है। ऐसा व्यक्ति आत्मार्थी बनने की बजाय पुद्गलार्थी बना रहता है और रात दिन पौद्गलिक सुख साधन प्राप्त करने के स्वप्न सजोता रहता है, बल्कि मतवाला होकर दिवा स्वप्न तक देखता रहता है। पर-पदार्थो की उलझन वाला यह जजाल आत्मा को सताता रहता है और वह अपनी शुद्ध सज्ञा को जागृत नहीं बना पाती है। इसलिये प्रार्थना में सकेत दिया गया है कि हे आत्मन्, तू मूल रूप में शुद्ध, विशुद्ध एव अविकारी है, किन्तु ससार मे परिभ्रमण करते हुए जो विकारो के पुज तेने एकत्रित कर लिये हैं, उन्हें पुन समाप्त अपने आत्मिक गुणो के विकास के द्वारा ही किया जा सकता है। इन पर-पदार्थो को प्राप्त करने की जो चाह है, वह तेरे मन मे रही हुई उनके प्रति आसक्ति एव ममता के फल स्वरूप है अत यदि तू उस आसक्ति और ममता को मिटा दे तो एक दिन तू भी जिनेन्द्र बन सकती है, जिनकी कि यह प्रार्थना की जा रही है क्योकि जिनेन्द्र का स्वरूप कही बाहर नही, तेरे ही भीतर विराजमान है।

सच्ची स्थिति यह है कि सासारिक जजालो की उलझन मिटे तो आत्म-स्वरूप का मक्खन दिखाई दे। मक्खन यद्यपि जमे हुए दही रूप दूध को मथने से निकलेगा, फिर भी मथने के समय मक्खन को छाटने के लिये पानी की जरूरत पडती है। यह आत्म स्वरूप का मक्खन आत्मीय गुणो को मथने और उन्हे उज्जवल बनाने से ही निकलेगा, लेकिन इस मक्खन की छटाई ससार के बाह्य दृश्यो के माध्यम से भी होती है। मृत पुरुष की अर्थी देखकर भी मृत्यु का चिन्तन हो सकता है तथा उससे आत्म स्वरूप मे निखार लाने का प्रयास कारगर बन सकता है । किसी को वृद्धावस्था देखकर, किसी को बैल देख कर तो किसी को कोई बाह्य पदार्थ देखकर भी आत्म स्वरूप का भान हुआ है तो यह मान सकते हैं कि पानी भी मक्खन निकालने का साधन बन सकता है।

किन्तु जिस दिन आत्म स्वरूप का मक्खन छटना आरभ हो जाता है तो समझिये कि उस आत्मा की विकास यात्रा शुरू हो गई है। उस आत्मा के अन्दर छिपी हुई जिनेन्द्र की शक्ति, अरिहन्त की शक्ति अथवा सिद्ध की शक्ति प्रकट होने लगती है। उस शक्ति का जब वह आत्मा विधिवत् सदुपयोग करती है तो

उसके विकास और विस्तार से वह परम पद को भी प्राप्त कर लेती है।

उलझन को पहिचानो, उलझन से निकलने के रास्ते को पहिचानो

आत्मा की आन्तरिक शक्ति का प्रकटीकरण तभी सभव बनता है, जब ससारी आत्मा ससार के अन्दर की अपनी उलझन को पहिचानले तथा उस उलझन से निकलने के सही रास्ते को भी पहिचान ले। उलझन की परिस्थितियों को पहिचान लेने से उन परिस्थितियों से बचते रहने की चेष्टा इस आत्मा की बनेगी क्योकि वह सारी प्रक्रिया को समझ लेगी कि किस प्रकार अपनी अन्तर्चेतना को विद्रूप बना कर वह सासारिकता की उलझनों मे फसी थी ? इस जानकारी के बाद उसमे उस उलझन से बाहर निकल आने की सच्ची लगन भी पैदा हो जायगी और यही लगन उसे उस उलझन से बाहर निकलने के सही रास्ते की पहिचान भी करायगी। एक बार सच्ची लगन पैदा हो जाय और सही रास्ता दिख जाय तो फिर विकासशील आत्मा अपने सत्पुरुषार्थों को कार्यरत बनाने में पीछे नहीं रहेगी।

किन्तु जब तक आत्मा में ऐसी लगन पैदा नहीं होती है, तब तक वह ससार के रग बिरगे दृश्यों मे मोहित बनती रहती है। मोह उसे अधिक से अधिक पुद्गलो के आकर्षण मे उलझाता रहता है और दिशा नहीं बदलती है तो वह सारी जिन्दगी भर तक भी सुलझ नहीं पाती है। जिसकी सारी शक्ति इन उलझनो मे ही व्यय हो जाती है, वह आत्मा अपने निज स्वरूप का मक्खन प्राप्त नही कर सकती है। ये भव तत्त्व बडे लुभावने होते हैं और आत्मा को मोहग्रस्त बना देते हैं जिन की चाह मे वह विकारग्रस्त भी बन जाती है।

इन भव तत्त्वो को भी पहिचानना आवश्यक है, क्योकि मूल रूप में तो ये तत्त्व ही उलझने पैदा करते हैं। इन भव तत्त्वो को नहीं पहिचानेगे तो आत्मा का स्वरूप भी ख्याल में नहीं आवेगा। जन्म लेने के बाद जब बालक का कुछ-कुछ इन्द्रिय विकास होने लगता है तो वह सासारिक पदार्थो को देखने और समझने की कोशिश करता है। जिज्ञासा बढती रहने के साथ-साथ उसकी कोशिशें भी तेज होती रहती है। तब ससार के अधिकाधिक पदार्थो को वह समझने लगता है। आयु और समझ बढने के साथ-साथ सस्कारो के अनुरूप वह उन पदार्थो के प्रति अपनी अमुक धारणा का भी निर्माण करता है जबकि ये भव तत्त्व उसे अपनी ओर आकर्षित कर मोहग्रस्त करना चाहते हैं।

सस्कार, जिज्ञासा, समाधान तथा धारणाओ का निर्माण

जन्म के बाद ज्यो-ज्यो समझ परिपक्व होने लगती है, त्यो-त्यो सामने आने वाले दृश्य पदार्थो आदि के बारे मे जिस प्रकार की जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं, उनमे उस व्यक्ति के अपने सस्कारो का पुट अवश्य रहता है। परिवार, समाज या राष्ट्र के जिस प्रकार के वातावरण मे वह जन्म लेता है तथा बडा होता है, उसके जीवन पर वे सस्कार अपनी छाप छोडे बिना नही रहते हैं।

फिर जिज्ञासा एव समाधान का रूप जिस प्रकार बनता है, उसे एक उदाहरण से समझने का यत्न करे। समझिये कि कोई किसी बडी हवेली मे पहुँचना चाहता है। सामने दीवार आ जाती है तब वह किसी व्यक्ति को पूछता है और यदि वह आवश्यक ज्ञान देने मे योग्य होता है तो उसकी जानकारी के आधार पर उस को दरवाजा भी मिल जाता है। फिर वह उस हवेली में प्रवेश करके अपनी जिज्ञासा का समाधान पा जाता है। जिज्ञासा शान्त करके वह उसमे न उलझता हुआ वापिस बाहर आ जाता है। बाहर आकर जो वह अपने द्वारा देखी हुई हवेली के स्वरूप का विश्लेषण करता है, उसी के आधार पर वह उस हवेली के प्रति अपनी धारणा का निर्माण करता है। इस प्रकार जिज्ञासा का जिस रूप में किसी तत्त्व के सम्बन्ध में अपनी विचारणा अथवा दूसरों के विचार विश्लेषण से जो समाधान होता है, उसी के आधार पर तत्सम्बन्धी धारणा का निर्माण होता है। किसी तत्त्व, विषय अथवा विचार के बारे में किसी धारणा के निर्माण हो जाने का यह अर्थ माना जायगा कि धारणा बनाने वाले व्यक्ति का उस तत्त्व, विषय अथवा विचार के प्रति सामयिक विश्लेषण या गुणावगुण निर्णय उस निर्मित धारणा के अनुसार है। जब तक कोई विशेष परिवर्तन का कारण नहीं बनता, तब तक व्यक्ति अपनी निर्मित धारणा के अनुसार कार्य करता हुआ चला जाता है।

अब मान लीजिये कि यह विराट् ससार उस हवेली के समान है जिसकी दीवारें पहाड, भूमि आकाश आदि हैं। इन सबको देखकर कोई चिन्तनशील व्यक्ति ससार के स्वरूप को समझने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा उसकी जिज्ञासा की उग्रता के अनुसार बलवती बनती जाती है और उसके अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। फिर वह अपने अनुभव तथा पूर्व विद्वानो के विश्लेषण के अनुसार अपनी जिज्ञासाओ को समाधान खोजता है। वह खोजा हुआ समाधान ही उसकी धारणा का आधार बन जाता है। एक की धारणा बाद

मे लोगों की जिज्ञासाओं के लिये समाधान का स्त्रोत बन जाती है।

ज्ञान का विकास एव प्रसार जिज्ञासाओ की गूढता पर आधारित होता है। जिज्ञासा की शान्ति उपयुक्त समाधान से ही होती है और समाधान तभी होता है जब पहले का जाना हुआ ज्ञान अपने अनुभवजन्य ज्ञान के साथ एकीभूत हो जाता है। योग्य समाधान से अपने लिये तत्त्व का स्पष्टीकरण होता है तो विस्तृत ज्ञान प्राप्ति का द्वार भी खुल जाता है।

ससार के स्वरूप, उसके निर्माता तथा उसके आधार को जानने की जिज्ञासा

जिनके अन्तर मे ज्ञान की पिपासा होती है, उनकी जिज्ञासावृत्ति उग्र होती है जो योग्य समाधान को प्राप्त किये बिना शान्त भी नही होती है। क्या आपके मन मस्तिष्क मे भी इन प्रश्नों के उत्तर जानने की जिज्ञासा पैदा होती है कि यह ससार क्या है, इसे किसने बनाया, किसके आधार पर यह चल रहा है तथा यह पृथ्वी तल किस तरह टिका हुआ है ?

जहॉ यह कल्पना आई कि यह पृथ्वी तल किसके आधार पर टिका हुआ है तो कई विचारक इसका समाधान देने के लिये सामने आये। एक ने कहा कि शेषनाग के हजार फनो पर यह पृथ्वी तल टिका हुआ है। यह तर्क का युग है और कोई तर्क करे कि हजार फन भी हो मगर नाग है तो जानवर ही– फिर वह जानवर किसके आधार पर टिका हुआ है ? इसका उत्तर नहीं मिलता। उत्तर ही नहीं है तो समाधान कहॉ से होगा ? किसी दूसरे ने कहा– पृथ्वी गाय के सींग पर टिकी हुई है तो इस समाधान की स्थिति भी शेषनाग जैसी ही है। जब ऐसे समाधानों से सन्तोष नही हुआ तो इन प्रश्नों पर वैज्ञानिक रीति से अनुसधान किया जाने लगा। वैज्ञानिको ने समाधान दिया कि पृथ्वी नीचे से नहीं टिकी है, ऊपर से अटकी है याने कि पृथ्वी पिड का टिकाव सूर्य के प्रति आकर्षण के आधार पर है। वैज्ञानिक लोग पृथ्वी का निर्माण भी इस तरह मानते हैं कि अग्निपिड सूर्य का एक टुकडा टूट कर अवकाश मे गिरा तो वहीं ठडा होकर पृथ्वी पिड के रूप मे ढल गया। फिर धारणाऍ बदलती गई और प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन, डारविन तथा आइस्टीन के सिद्धान्त सामने आये जिनके उपरान्त भी सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता है।

आत्म विज्ञान के वेत्ताओ ने निर्विकार रूप से ससार के स्वरूप का अवलोकन किया तथा उसे हस्तामलकवत् देखा। तब उन्होने स्वरूप का जो उल्लेख किया है उसी से स्थिर दृष्टि के साथ उपरोक्त जिज्ञासा का योग्य

समाधान होता है। वीतराग देवो ने उक्त प्रश्नो का जो समाधान दिया है, वह शास्त्रो मे मिलता है।

वह समाधान इस प्रकार है। पृथ्वी पिड का जो विराट् स्वरूप है, वह बिना आधार टिक नही सकता है। शास्त्रीय शब्दो मे वह आधार है घनोदधि का आधार। घन + उदधि का अर्थ है जमे हुए पानी (बर्फ) का समुद्र। अनादिकाल से मजबूत जमे हुए बर्फ की शिल्लाओं पर पृथ्वी पिंड टिका हुआ है। यह घनोदधि भी घनवायु पर टिका हुआ है। फिर घनवायु (भारी व ठोस हवा) भी तनुवायु (पतली हवा) पर टिका हुआ है। प्रश्न उठता है कि तनुवायु कहाँ है ? तो इस का भी समाधान दिया गया है कि तनुवायु आकाश में होती है। आकाश मे तनुवायु, उस पर घनवायु, घनवायु पर घनोदधि तथा उस पर पृथ्वी पिड, अत पृथ्वी पिड के डोलायमान होने की स्थिति नहीं रहती है। उसके किसी के आकर्षण पर टिकी रहने का भी कोई प्रश्न नही है। अनुभव नहीं होने से कोई यह पूछ सकता है कि भारी हवा पर बर्फ की शिलाएँ कैसे टिक जाती हैं ? खाली घडो के मुह बन्द करके व अपने सीने पर उन्हे बाधकर पानी मे तैरना सीखा जाता है तो तैरने वाले व्यक्ति का वजन कौन झेलता है ? खाली घडो मे बन्द हवा ही तो उस वजन को झेलती है। इस प्रकार यह शास्त्रीय वर्णन उपरोक्त जिज्ञासा का सुन्दर समाधान उपस्थित करता है।

हवा द्वारा वजन झेलने के कई उदाहरण मिलेगे। पहियो की मामूली हवा के बल पर ट्रक या बसे कितना वजन ढोकर दौडती हुई चली जाती है। पतली वायु पर भारी हवा के टिकने के भी कई उदाहरण हैं। रॉकेट जिसे ऊपर फैंका जाता है ज्यो-ज्यो भारी हवा के क्षेत्र से निकलता जाता है और पतली हवा के क्षेत्र मे पहुँचता जाता है, उसका वेग बढता हुआ चला जाता है। आजकल तो दो अवकाश यानो के बीच रस्सी के सहारे आदमी अवकाश मे उडाने भी भर लेता है। इस तरह अध्यात्म दृष्टाओ द्वारा दिया गया समाधान वैज्ञानिको के लिये भी विचारणीय है और सच्चा है क्योकि उन्होंने विकाररहित दृष्टि से उसे प्राप्त किया है।

निर्विकार समाधानो के प्रति आस्था और जीवन की उन्नति

निर्विकार समाधानों के प्रति अगर इन्सान दृढ आस्था कर ले तो उसके जीवन की उन्नति विकासशील सस्कारो के साथ सहज बन जाती है। एक आत्मा चाहे पशु योनि मे रही हुई हो लेकिन निर्विकार सस्कारों को वह आस्थापूर्वक

ग्रहण कर ले तो वह मनुष्य जीवन के अनुकूल सस्कारो का निर्माण कर लेती है। इस सम्बन्ध मे एक घटना का उल्लेख कर देता हूँ।

महापुर नगर मे छत्र छाया महाराज राज्य करते थे। वहाँ पद्म श्री नामक एक सेठ रहता था। वह सेठ प्रत्येक सत्सग मे भाग लेता तथा निर्विकार दशा के स्वरूप पर चिन्तन किया करता था। वह यह श्रद्धा लेकर चल रहा था कि अन्तिम समय मे यह आत्मा किसी महापुरुष की शरण में समर्पित हो जाय तो श्रेष्ठ रहे। एक बार उस नगर के राजपथ से गायों का एक समूह गुजरा जो अकाल की दिशा से सुकाल की दिशा की ओर जा रहा था। उस समूह मे से भूख के कारण कमजोर एक बैल नीचे गिर पडा। मालिक ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया व अपने समूह को लेकर आगे बढ गया। पीछे से पद्म श्री सेठ आ रहा था। उसने उस बैल को देखा ओर उसके हृदय मे उसके प्रति आत्मवत् करुणा उमड आई। वह उसके लिये सूखा घास और पानी लाया लेकिन बैल ने नही लिया क्योंकि वह मरणासन्न था। यह समझ कर सेठ ने बैल के कान मे परमात्मा के नाम का उच्चारण किया तथा निर्विकारी दशा का स्मरण कराया। बैल की आत्मा ने वे वचन ध्यानपूर्वक सुने तथा उनके प्रति श्रद्धा की तो उस समय उसके आयुष्य का बध होने से वह आत्मा बैल की योनि से निकल कर उसी नगर की महारानी के गर्भ मे उत्पन्न हुई। जब बालक पैदा हुआ तो उसके सिर पर बैल का चिन्ह था अत उसका नाम ऋषभ रखा गया। फिर उसका नाम ऋृषभ ध्वज कर दिया गया।

राजकुमार बडा हुआ तो एक दिन नगर के राजपथ पर घूमता हुआ उस स्थान पर पहुँचा तो उसके चित्त मे अपार प्रसन्नता होने लगी जिस स्थान पर बैल मरा था और सेठ ने उसे परमात्मा का नाम सुनाया था। राजकुमार ने सोचा कि इसका क्या कारण है ? सोचते-सोचते उसको जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया और उसको अपने पूर्वभव की सारी जानकारी स्मरण मे आ गई। अब उसकी इच्छा पद्म श्री सेठ से मिलने की हुई, लेकिन उसने सेठ का पता लगाने के लिये यह उपाय किया कि राजपथ के किनारे एक मकान बनवा कर उस पर ऐसा चित्र बनवाया कि एक बैल मर रहा है और एक सेठ उसके कान में परमात्मा का नाम सुना रहा है। सेठ की आकृति हूबहू, पद्म श्री सेठ की ही थी क्योकि जाति स्मरण ज्ञान से उसका राजकुमार को पता लग चुका था। चतुर चित्रकार ने सब कुछ इतनी कलाकारी से बनाया कि वह चित्र सजीव सा लगता था। फिर राजकुमार ने उस चित्र के पास एक सिपाही को खडा करके उस को निर्देश दे दिया कि इस आकृति वाला कोई सेठ आवे तो उसको ससम्मान मेरे

पास ले आना।

पद्म श्री सेठ उस समय परदेश गया हुआ था। कुछ समय बाद वह परदेश से लौटा और उस राजपथ पर घूमने निकला तो उस चित्र को देखकर ठिठक कर खडा हो गया। सब कुछ सत्य जो केवल उसी को मालूम है– इस चित्र में किसने चित्रित कर दिया ? सेठ को सिपाही ने देखा और उसने पहिचान कर ली। वह सेठ को राजकुमार के पास ले गया। सेठ के पहुँचते ही राजकुमार उसके चरणो में गिर गया तथा जाति स्मरण ज्ञान के आधार पर अपना सम्पूर्ण आभार व्यक्त करने लगा।

क्या आप दही मथकर तो मक्खन निकाल सकेगे ?

जैसे मक्खन दही मे समाया हुआ रहता है, लेकिन दही को मथने पर उससे विलग होकर प्रकट होता है, उसी प्रकार परमात्म तत्त्व इसी आत्मा में समाया हुआ है और उसे प्रकट करने के लिये आत्म स्वरूप का मन्थन करना आवश्यक होता है। आत्म स्वरूप के मन्थन की क्या विधि है– इसे जान लीजिये। मन्थन तभी होता है तब दही की पूरी मात्रा में उथल पुथल मच जाती है। दही पूरी तरह विलोडित हो जाता है। आत्म स्वरूप के मन्थन मे इसी तरह आत्मा विलोडित हो जानी चाहिये। इस विलोडन में उसके साथ सयुक्त कर्मो के समूह टूट-टूट कर बिखरते जायेगे ओर आन्तरिक शक्तियाँ दही में उठने वाले फेनो के तुल्य उभर कर ऊपर आ जायगी। ये शक्तियाँ ही जब परम तेजस्वी रूप ले लेगी, तब समझा जायगा कि मन्थन पूरा हो चुका तथा मक्खन निकल गया। नवनीत के तुल्य आत्म स्वरूप की परमोज्ज्वलता निखर उठती है। यही परमात्मा तत्त्व का प्रकाशित होना है।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आत्मा को निर्विकारी स्वरूप पर आस्था के साथ चिन्तन करना चाहिये। जैसे बैल से राजकुमार बन गया तथा आगे बढ कर परमात्मा के रास्ते पर लगा, वैसे ही ज्ञानियों के समाधान लेकर आप भी आत्मा परमात्मा के स्वरूप को समझे तथा आध्यात्मिक धारणाओ के साथ ससार की उलझनो से बाहर निकल जावे तो जीवन की चरम उन्नति कठिन नहीं रहेगी।



4

संघर्ष : आन्तरिक स्वच्छता के लिये

विमल जिनेश्वर सेविये,
थारी बुध निर्मल हो जाय रे जीवा
विषय विकार निवार ने
तू तो मोहनी करम रूपाय रे जीवा
विमल जिनेश्वर सेविए

प्रभु विमलनाथ की प्रार्थना का प्रसग आ गया है। ससार के मल मे लिपटे हुए मानव को इस अवस्था मे विमलता की सर्वाधिक आवश्यकता है। मल से लिपटते हुए इस आत्मा ने अनेक जन्मो मे अनेक दु खो को भोगा है और अब यदि यह अपने निज स्वरूप को विमल बना ले तो इसे अनन्त आनन्द की अनुभूति हो सकती है।

आत्मा के निज स्वरूप को विकृत एव अशुद्ध बनाने वाले कौन से तत्त्व हैं ? ये हैं मल, विक्षेप और आवरण, जो निज स्वरूप की, शुद्धता को दबा देते हैं। इन तीनो के अन्तर्गत आठों कर्मों की स्थिति का प्रसग है। इन तीनो प्रकार के विकृति के साधनो को हटाने का अर्थ है कि आठो प्रकार के कर्मो का क्षय किया जाय। आठो कर्मो के मल को एक साथ ही हटा सकें– ऐसी शक्ति पैदा हो जाय तब तो बहुत ही शीघ्रता से काम हो सकता है। किन्तु ऐसी शक्ति का तीव्र बनना बडा ही कठिन माना गया है।

कोई भी कठिन कार्य बनता है सघर्ष करने से और सघर्ष करने से ही शक्ति का प्रकटीकरण भी होता है। सघर्ष के प्रारभ में शक्ति का स्फुरण होता है तो सघर्ष की सम्पन्नता विजय श्री मे प्राप्त होती है। सघर्ष एक प्रकार से लक्ष्यपूर्ति के लिये जीवन को आन्दोलित कर देता है।

सघर्ष शक्ति और विजय का प्रतीक होता है।

सामान्यतया सघर्ष सदा शुभ लक्ष्य की पूर्ति के लिये ही किया जाता है। प्रत्येक शुभ कार्य की पूर्ति भी सरलता से नहीं हो जाती है क्योकि उसकी पूर्ति मे बाधा डालते हैं अशुभ तत्त्व। इन अशुभ तत्त्वो से सुफल सघर्ष करने के बाद शुभता की विजय होती है। इसलिये सघर्ष शक्ति और विजय का प्रतीक होता है और यदि सघर्ष शुभ लक्ष्य के लिये किया जा रहा है तो उसके माध्यम से आत्म स्वरूप अपने में एक प्रकार के आन्दोलन का अनुभव करता है और यह आन्दोलन ऐसा होता है जिसके द्वारा जीवन का सार प्रकट हो जाता है।

आत्मा का सघर्ष है आठ कर्मो के मल के विरूद्ध और इस शुभ लक्ष्य के लिये जब सघर्ष छेडा जायगा तो आत्मा की आन्तरिक शक्तियॉ एक-एक करके प्रकट होती जायगी। वास्तव मे सघर्ष के बिना शक्तियो का जागरण भी सभव नही बनता है और सघर्ष के बिना विजय श्री का मिलन भी नहीं होता है। शुभ लक्ष्य को निर्धारित करके आत्मा के विमल स्वरूप को प्राप्त कर लिया जाय तो यह सघर्ष से बहुत बडी उपलब्धि हो जायगी।

सघर्ष से किस प्रकार प्रतिरोध की शक्ति एव कार्य की स्फूर्ति प्राप्त होती है– इसको दधिमथन (बिलौने) की प्रक्रिया के साथ तुलना करके समझ सकते हैं। दही जमा हुआ होता है– उसमें से उस अवस्था मे मक्खन निकालना चाहें तो नहीं निकाला जा सकेगा। मक्खन अवश्य दही मे समाया हुआ होता है किन्तु दही के रूप मे दिखाई नहीं देता है। फिर उस दही में बिलौनी डाल कर दोनों हाथो से रस्सी के जरिये उसको तेजी से घुमाते हैं तो सारा का सारा दही ऊचा नीचा होता रहता है याने कि उसका मथन होता है। यह दही के लिये जो मथन की प्रक्रिया है, वही जीवन के लिये सघर्षगत प्रक्रिया होती है। दही की तरह आत्मस्वरूप का सघर्ष में जब मथन होता है तो अशुभ वृत्तियॉ मथी जाकर छाछ की तरह नीचे जमा होती जाती है और शुभ वृत्तियॉ मक्खन की तरह ऊपर तैर-तैर सचित होने लगती है। घर्षण के परिणामस्वरूप आत्मा का मैल मज जाता है और उसकी चमक निखर जाती है।

इसी सघर्ष के कारण प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास होता है जिससे आत्मा आसानी से किन्ही अशुभ वृत्तियो का शिकार नही हो सकती है। कोई आक्रमण करे और उसे रोकने की शक्ति नही हो तो वह आसानी से उस आक्रमण का शिकार हो जाता है। किन्तु कोई आक्रामण का प्रतिरोध कर ले तो

वह आक्रामक को पराजित भी कर सकता है। अत कर्म शत्रुओं को पराजित करने के सदर्भ मे सघर्ष के विजयपूर्ण महत्त्व को गमीरता के साथ समझना चाहिये तथा सघर्ष की स्फूर्ति पैदा करनी चाहिये।

सघर्ष कर्म मल के विरुद्ध ·
सघर्ष आत्म शुद्धि के लिये

आज पर्यूषण महापर्व का प्रारभ हो रहा है। जानते हैं, पर्यूषण पर्व के आयोजन का मूल लक्ष्य क्या है ? इस महापर्व का चिन्तन प्रारभिक रूप से जीवन के शुभ व्यवहार के साथ करना है तथा इसका मूल लक्ष्य आत्म स्वरूप पर फैले हुए मल को हटाकर उसे विमल बनाना है। इस आत्मा ने मनुष्य जीवन मे रहते हुए अपने कर्त्तव्यो को– अपने दायित्त्वो के भुला दिया है। इस विस्मृति एव विकृति के कारण इस के स्वरूप पर न्यूनाधिक रूप मे आठो प्रकार के कर्मो ने मल, विक्षेप तथा आवरण डाल कर उस स्वरूप को मलिन बना दिया है। इस आच्छादन के नीचे आत्मा की मूल शक्तियॉ निस्तेज होकर छिप गई हैं। यह मलिनता दिन प्रतिदिन बढ रही है। सोचिये कि प्रतिदिन मलिनता बढती ही रहे और उस मलिनता को हटाने का अवसर उपस्थित ही न हो तो क्या वह मलिनता दुर्दान्त नहीं बन जायगी ? क्या उस मलिनता से भयकर सडान पैदा होकर सारा वातावरण दुर्गंधमय नहीं हो जायगा ?

एक वस्त्र को भी यदि मनुष्य कई दिनो तक नही धोता है तो उस पर भी लीलन फूलन जमा हो जाती है तथा उससे बदबू फूटने लगती है । ऐसे वस्त्र को पहिने हुए व्यक्ति के पास बैठना तो दूर, उसके पास से गुजरने मे भी बदबू के मारे बुरा हाल हो जाता है। बाहर के एक स्थूल पदार्थ की भी मैल के कारण जब ऐसी दशा हो जाती है तो सोचिये कि इस आत्म स्वरूप पर जो निरतर कर्मो का मल चढाया जाता रहा है, उसकी विकृति कितनी कष्टदायक हो रही होगी ?

आप अपने आपको सभ्य मानते हैं तथा उस दृष्टि से अपने वस्त्रो का प्रक्षालन करके उनको स्वच्छ रखते होगे– शरीर पर भी मैल नही जमने देते होगे, लेकिन क्या आपकी यह सभ्यता आभ्यन्तर रूप भी ले सकी है ? क्या आपने कभी भीतर के मल की तरफ भी निहारा है ? भीतर की वृत्तियो और उनसे प्रेरित प्रवृत्तियों की अशुद्धता के कारण ही कर्मो का बंध होता है और इस आत्मा के साथ जितना कर्मो का बध है, वही इसका मल, विक्षेप और आवरण है। इन्हे ही हटाने के लिये सघर्ष की आवश्यकता है।

यह सघर्ष होगा कर्म मल के विरुद्ध। यह सघर्ष होगा अपनी ही अशुभ वृत्तियो एव प्रवृत्तियों के विरुद्ध जिनकी कलुषितता से आत्म स्वरूप पर मलिनता के आवरण चढते जाते हैं। यह सघर्ष होगा आन्तरिक स्वच्छता के लिये और आत्मशुद्धि के लिये ताकि सघर्ष की समाप्ति के साथ ही आत्म स्वरूप परम विशुद्ध एव विमल बन जाय।

अन्त करण से उठने वाली दुर्गंध चारो ओर विकृति फैलाती है

बाह्य वातावरण में फैलने वाली दुर्गंध के दुष्परिणामों से तो आप परिचित हैं कि एक स्थान पर यदि किसी मरे हुए पशु की लाश सड रही हो तो उससे उठने वाली दुर्गंध किस प्रकार चारो ओर के वातावरण को दुर्गंधमय एव रोगमय बना देती है, लेकिन अन्त करण से और अपने ही अन्त करण से उठने वाली दुर्गंध किस प्रकार चारो ओर विकृति फैलाती है– क्या इस पर भी कभी आपने विचार किया है, किसी प्रकार का अनुभव लिया है ?

समझिये कि आप व्यापार के बहुत ही आवश्यक कार्यो मे व्यस्त हो गये और कई दिनो तक शरीर व वस्त्रो की सफाई न कर सके तो उस व्यस्तता की विवशता के बावजूद आपके मन मे उस अस्वच्छता को जल्दी से जल्दी दूर करने की भावना तो बनी रहेगी और ज्यो ही अवसर मिलेगा तो साबुन आदि के प्रयोग से वस्त्रो को भी धोयेंगे तथा शरीर के मैल को भी दूर करेगे, क्योंकि आप अनुभव कर चुके कि अस्वच्छता फैलने पर शरीर और वस्त्रों से असह्य दुर्गंध उठने लग जाती है। किन्तु आप यह अनुभव भी क्यो नहीं लेते कि जब अपनी अशुभ वृत्तियों एव प्रवृत्तियों से अशुभ कर्मो का बध होता है तो उस मल, विक्षेप तथा आवरण से उठने वाली दुर्गंध कितनी अशुद्ध, विकृत तथा पतित बनाने वाली होती है ? आत्म स्वरूप की इस भीषण दुर्गंध को यदि आप महसूस करने लगें तो कर्म मल को सामयिक विवशता के कारण तुरन्त हटाने मे तत्पर न भी बन सके, तब भी उसको हटाने की दृढ इच्छा पैदा हो जायगी तथा ज्यों ही अवसर मिलेगा तो उस दुर्गंध को हटाने के लिये आप अवश्य कठिन सघर्ष छेड देंगे।

अन्त करण से उठने वाली दुर्गंध किस प्रकार अपने ही भीतर तथा चारो ओर के वातावरण मे दुर्गंध फैला देती है– इसको भी समझ लेने की आवश्यकता है । एक व्यक्ति के मन में जब शुभ भावना होती है तो वह बाहर भी शुभ प्रवृत्ति मे ही लगा रहना चाहता है। मन की शुभता मन को आनन्द देती ही है लेकिन

यही शुभता जब वचन और कार्य मे उतर कर दूसरो को आनन्दित बनाती है तो अपने मन का आनन्द कई गुना बढ जाता है। इसके विपरीत एक व्यक्ति अपने मन मे अशुभ वृत्तियो के ताने बाने बुनता है, षड्यत्र रचता है और घात प्रतिघात लगाता है तो वह अपने मन मे तनावपूर्ण कष्टदायक भार लेकर चलता है और उसका वह कष्ट कई गुना बढता रहता है जब वह अपने मन की अशुभता के अनुसार अपने वचन एव कार्य को अशुभता से रगता हुआ दूसरो को हानि पहुँचाने की कुचेष्टा करता है। उसके अन्त करण से बुराई की जो तेज बदबू उठती है, वह बदबू सामने वाले के अन्त करण पर भी हमला करती है और उसे भी बुराई से रग देना चाहती है। इस तरह बुराई चारो ओर के वातावरण मे फैल जाती है तथा उस परिवार, समाज या राष्ट्र को विकृति की दुर्गधित बना देती है। विकृति जितनी घनी हो जाती है, दुर्गंध उतनी असह्य बन जाती है और तब उससे सघर्ष करना भी उतना ही अधिक कठिन हो जाता है।

इसलिये तत्परता यह होनी चाहिये कि आन्तरिक दुर्गंध पैदा होने का अवसर ही नहीं आवे, लेकिन ससार मे रहते हुए यह कठिन लगता है। अत इतनी तत्परता तो आवश्यक ही है कि जरा सी दुर्गंध पैदा होते ही उसकी महसूस गिरी हो जानी चाहिये तथा उसको उसी समय धो डालना चाहिये ताकि दुर्गंध और उससे फैलने वाली विकृति का घनत्व बढने न पावे।

वर्तमान विकृति को धोने का प्रसग आ गया है पर्यूषण पर्व मे

कितना ही दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति क्यो न हो– वह चाहे कोयले की खान मे ही काम करता हो और सदा उसका शरीर व वस्त्र काले बने रहते हों फिर भी दीपावली या किसी त्यौहार के पसग से तो वह उस मलिनता को धोना ही चाहेगा। वैसे ही मैं सोचता हूँ कि जिन भाइयो को अपनी इस आत्मा की विकृति को धोने का अवसर नही मिलता है, वे इस पर्यूषण पर्व के प्रसग से तो अपनी वर्तमान विकृति को धोने के लिये तैयार हो जावें। चाहिये तो यह कि रोज की गन्दगी रोज ही साफ कर ली जाय और उसको जमा न होने दी जाय। ऐसा वे लोग अवश्य करते हैं जो स्वच्छता के प्रति जागरूक होते हैं । वे भीतर की अस्वच्छता का कतई सहन नहीं करते हैं और कठिन सघर्ष करके भी मलिनता को दूर करते रहते हैं। इसके लिये प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण करने का विधान किया गया है। प्रात काल और सायकाल, प्रतिक्रमण करके अपने रात और दिन के पाप कार्यो के लिये प्रायश्चित करना चाहिये और पापो से दूर हटते रहने का

सकल्प बनाना चाहिये। आत्मालोचन रूप यह प्रतिक्रमण साबुन के समान है जिससे आत्मा की मलिनता को धोकर आत्म स्वरूप को विमल बना सकते हैं।

मैंने कहा है कि कोयले की खान मे काम करने वाला मजदूर रोज अपनी सफाई न भी कर सके तो कम से कम त्यौहार के प्रसग से तो बाहर मास के मैल को दूर कर ले। क्या आप अपनी तुलना कोयले की खान मे काम करने वाले मजदूर से भी नही करेगे ? बारहो मास आप सासारिकता के कोयलों से अपना तन बदन काला करते रहते हैं तो यह पर्यूषण पर्व यह सन्देश देता हुआ आया है कि अब तो अपने मैल को धो डालो और आत्म शुद्धि के सघर्ष मे हट जाओ। कोई बारह महीनो तक मकान का कचरा नही निकाले– उसको गन्दा होने दे तब भी दीपावली के प्रसग से तो वह मकान का कचरा भी निकालता है, उसकी सफाई, रगाई, पुताई भी करता है। तो आत्मा की सफाई आदि के लिये यह पर्यूषण पर्व दीपावली के ही समान है। पर्यूषण पर्व के आत्म शुद्धि के सन्देश को हृदय मे भी उतारिये तथा जीवन मे भी उतारिये। कहा है–

यह पर्व पर्यूषण आया,
दुनिया मे आनन्द छाया रे।

करे कोई बेला और तेला, कोई देवे कर्म को ठेला रे
क्रोधादिक दोष मिटाओ, आत्म शुद्धि कराओ रे
जो आनन्द मगल चावे, वे पर्व पर्यूषण ध्यावे रे
मन मे जीवन शुद्धि भावे, शुद्ध प्रेम मग्न हो जावे रे
यह पर्व पर्यूषण आया

आत्म स्वरूप पर आठ प्रकार के कर्मो का मैल चढा हुआ है और उस मैल को धो डालने का आत्म शुद्धि का सन्देश देने वाला पर्यूषण पर्व भी आठ ही दिन का होता है। एक-एक दिन में एक-एक तरह के मैल को धोते जावे तो आठ दिनों में आठों तरह के मैल को धोकर आत्म स्वरूप को शुद्ध और विमल बना सकेंगे। वर्तमान विकृति को धोने के इस पावन प्रसग को कतई हाथ से न जाने दे।

पर्यूषण पर्व का पहला दिन और गोकुल की गौवो की रक्षा

पर्यूषण पर्व का आज पहला दिन है और आज वत्स बारस भी है। वत्स बारस के दिन गौवो की पूजा की जाती है। जानते हैं, गौवो की पूजा क्यो की

जाती है तथा इसका आध्यात्मिक पहलू क्या है ? कृष्ण का जन्म महारानी देवकी की कुक्षि से हुआ। देवकी की आत्मा बडी विमल थी। उसने अपने अन्तिम लाल श्री कृष्ण को गोकुल मे यशोदा के पास भेजा– वहीं उन का लालन पालन हुआ। देवकी यो श्रीकृष्ण से मिलने गोकुल जाती तो कस को सन्देह होता, अत वह गौवो की पूजा करने वहॉ गई। उस दिन बारस थी जो वत्स बरस के नाम से ख्याति पा गई।

गाय और बछडो की पूजा के आध्यात्मिक पहलू को समझिये। शरीर को गोकुल का रूप मान ले तो इन्द्रियॉ गायो और बछडो के समान हो गई। अगर गोकुल मे विमल बुद्धि वाली देवकी तथा सुमति यशोदा विराजमान हो तो क्या गायो और बछडो मे वात्सल्य भाव पैदा नहीं होगा ? वत्सलता होगी तो वत्सो का स्वरूप भी विमल बनेगा। जब इन्द्रियॉ शुद्ध स्वरूप को लेकर रमण करने लगे तो उनकी पूजा करना भी वाछनीय होगा तथा उनकी रक्षा और गोपनीयता भी आवश्यक होगी। जितने रूप में इन्द्रियों का सकोच किया जायगा, आत्मा की विशुद्धता अभिवृद्ध होती जायगी। इसलिये पयूर्षण के पहले दिन शरीर रूपी गोकुल की इन गौवो व बछडो को पूजा के योग्य बनाने का प्रयास आरम कर दीजिये।

सुमति का सचार हो तथा सघर्ष का विचार बन जाय तो इन्द्रियों की विषय-विकार जन्य दूषितता को दूर करना कठिन नही रहेगा। इन्द्रियो में शक्ति है किन्तु उनका अशुभ वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों मे दुरुपयोग किया जा रहा है तथा उनको मलिनता सचित करने के केन्द्र के रूप में आप चलाने लग गये हैं इसलिये उनकी शक्ति भी बरबाद हो रही है। यदि उन्हे परिवर्तन की दिशा देदें तथा उनकी वर्तमान विकृति को धो डाले तो वे शुद्ध रूपिणी होकर आत्मीय गुणों को विकसित करने वाली बन जायगी। वैसी सयमित इन्द्रियॉ अवश्य पूजा एव रक्षा के योग्य होगी। पर्यूषण पर्व के पहले दिन से ही आप अपने गोकुल की सफाई शुरू कर दीजिये।

आत्म प्रक्षालन के सशक्त साधन तपाराधन एव आत्मालोचन

आत्म स्वरूप का भलीभाति प्रक्षालन करना है तो उसके लिये योग्य साधन भी अपनाने होंगे। पर्यूषण पर्व के सन्देश मे आपने सुना कि आत्म शुद्धि कर डालो। कैसे करो ? एक तो प्रतिक्रमण के माध्यम से आत्मालोचन करो।

आत्मालोचन का अर्थ है कि अपने भीतर देखो, अपने जीवन को परखो और समझो कि वह कहाँ-कहाँ से काला हो रहा है एव उस कालिख को किस प्रकार धोकर वहाँ स्वच्छता का विकास कर सकते हो। आत्मालोचना से मैल दिखाई देगा तो उस को दूर किया जा सकेगा तपाराधन से।

तपश्चर्या उस आग के समान होती है, जिस मे रखने से सोना अपनी मलिनता को ही समाप्त नहीं करता बल्कि अपने स्वरूप मे भी कुन्दन की तरह दमक उठता है। तपाराधन से शरीर और इन्द्रियो के विकारो का शमन होता है तो मन मे एक भव्य प्रकार की शान्ति व्याप्त होती है जो आत्मशुद्धि की सबल प्रेरणा देती है।

चातुर्मास और पर्यूषण के दिनो मे तपाराधन का भी एक विशिष्ट महत्त्व होता है। सासारिकता की दृष्टि से भी इस समय व्यापारियो, किसानो और सामान्य जनता के लिये विश्राम का अवसर होता है। गृहस्थी की चिन्ताओं में कमी होती है तो आत्मा का चिन्तन आसान बन सकता है। दूसरे, वर्षा ऋतु की रमणीयता तथा धरती की हरियाली से जीवन की हरियाली को भी प्रेरणा मिलती है। ऐसे सुन्दर वातावरण मे जब तपाराधन किया जाता है तो आत्मशुद्धि का कार्य भी भव्य तरीके से सम्पन्न बनाया जा सकता है।

आन्तरिक स्वच्छता के सघर्ष का सार है श्रेष्ठता, सुख और शान्ति।

आन्तरिक स्वच्छता के लिये छेडा जाने वाला सघर्ष जब सफल बनता है तो उससे आत्मशुद्धि होती है। आत्मा जब शुद्ध होगी तो श्रेष्ठ भी बनेगी। जहाँ श्रेष्ठता है, वहाँ सुख है और जहाँ वास्तविक सुख की अनुभूति होती है, वहाँ अमर शान्ति व्याप्त हो जाती है। इसलिये आन्तरिक स्वच्छता का ऐसा सघर्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिये।

पर्यूषण पर्व के अन्तर्गत आप अन्तगड सूत्र सुने या उत्तराध्ययन सूत्र, किन्तु इन्हें श्रवण करके आत्म ज्ञान का सार पाने का प्रयास करे। जो कुछ वीतराग देवो की वाणी आप सुने, उस पर चिन्तन मनन करे बल्कि भीतर ही भीतर उसका मथन करे ताकि आपको सार रूप मक्खन मिल सके। कम से कम आठ दिनो के लिये अन्य सारे कार्यों को गौण बनाकर ज्ञान, ध्यान, तप और आत्मशुद्धि के इस मथन मे अपने आपको लगादें। इसके लिये एक लगन लग जानी चाहिये और कठिन कर्मठता जग जानी चाहिये। क्या आपको अपनी आत्मा में विश्वास नहीं है ? और विश्वास है तो क्या आप उसके मल को धोना

नही चाहेंगे ? जहाँ चाह है वहाँ राह है। जब तक चाह ही मजबूत नहीं होती तो काम नहीं होता है। इस चाह को मजबूत बना लीजिये और आत्मशुद्धि के सघर्ष में जुट जाइये। यह सघर्ष कितना भी कठिन क्यो न हो– इसमे विजय प्राप्त करनी है– यह धारकर अपनी शक्तियो को जगाइये। यह सघर्ष सफल होते ही आपकी श्रेष्ठता, सुख और शान्ति आपको मिल जायगी।



5

सत्य के मुँह को सोने के पात्र से न ढकें

विमल जिनेश्वर सेविए,
थारी बुध निर्मल हो जाय रे जीवा

यह भगवान् विमलनाथ की प्रार्थना है। कवि का इस प्रार्थना में बडा ही गहरा सकेत है। वह सकेत ऐसा है जिसका अनुसरण कर ले तो जीवन की समग्र समस्याओ का समाधान निकल आवे। एक ही साधना में समग्र साधना का सूत्र– सम्पूर्ण भावनाओ का बीज समाया हुआ है। यह साधना है बुद्धि को निर्मल बनाने की साधना तथा कवि ने सकेत दिया है कि इस साधना को सफल बनाने का उपाय है विमलनाथ भगवान् की सेवा। यदि भगवान् की भलीभाति सेवा कर ली तो तेरी बुद्धि निर्मल हो जायगी– यह जीव को सम्बोधित कर कवि ने कहा है।

क्या कवि ने सभी जीवो को सम्बोधन दिया है ? वास्तव मे यह सम्बोधन सभी को है और सभी को अपनी बुद्धि को निर्मल बनाने का प्रयास करना चाहिये। बुद्धि यदि निर्मल हो जाती है तो मनुष्य का सारा सोचना, बोलना, करना सब निर्मल बन जायगा, लेकिन जब तक अकेली बुद्धि मलिन, कलुषित ओर कुटिल बनी रहती है तब तक उसका मायावी रूप बडा ही विचित्र दिखाई देता है। दुर्बुद्धि सदा ही सत्य के मुँह को सोने के पात्र से ढकने की चेष्टा मे रहती है।

भगवान् की सेवा बुद्धि की निर्मलता के लिये

यदि सेवा करनी है तो मानवता की सेवा के साथ-साथ मानवीय जीवन के सर्वश्रेष्ठ स्वरूप परमात्मा विमलनाथ की सेवा कर ली जाय तो अवश्य ही

बुद्धि निर्मल हो जायगी। विमल जिनेश्वर की यह सेवा विधिवत् होनी चाहिये। वह विधि क्या है ? भगवान् की सेवा वास्तव में मानवता की सेवा का ही नाम है लेकिन उस सेवा के लिये स्वय में योग्यता भी पैदा करनी होती है। तो उस योग्यता को प्राप्त करने की विधि यह है कि पहले अपने विषय-विकारों का निवारण कर लो। इन्द्रियों सम्बन्धी लालसाएँ कम होगी तो विचार, वचन तथा व्यवहार में विकारो का विस्तार भी नहीं हो पाएगा और अगर विकारो का जोर नहीं रहा तो बुद्धि की निर्मलता भी बनी रह सकेगी। जिसकी बुद्धि निर्मल होती है, वही भगवान् की और मानवता की सेवा करने के योग्य माना जाता है।

आकाश से गिरता हुआ पानी स्वच्छ होता है, लेकिन वही स्वच्छ पानी गटर में पहुँचता है तो उस गटर के गन्दे पानी के साथ मिलकर स्वच्छ पानी भी विकृत बन जाता है। उस विकृत पानी से मनुष्य की प्यास नहीं बुझती है बल्कि वह पीने योग्य ही नहीं होता है। वह गटर के पानी से घृणा करता है। वास्तव में विकार जिसके साथ जुड जाता है, वह घृणा का पात्र हो जाता है। ससार में मनुष्य के लिये यदि कोई दु ख का कारण है तो वह स्वय उसका विकार है। यह विकार उसकी बुद्धि के माध्यम से जीवन मे प्रवेश करता है तथा बुद्धि को ही सबसे पहले अपना शिकार बनाता है। फिर विकृत बुद्धि जीवन की सभी दिशाओ को विकारपूर्ण बना देती है।

जीवन के स्वरूप निर्माण में इस दृष्टि से बुद्धि का सबसे बडा योगदान होता है। बुद्धि यदि निर्मल होती है तो वह व्यक्ति उत्कृष्ट रीति से अपने व दूसरों के जीवन विकास पर सोचता है तथा अपने सहयोग का हाथ आगे बढाता है। यही बुद्धि जब जड तत्त्वो के आकर्षक कुप्रभाव मे आकर मलिन हो जाती है तो आत्मा भी अपने मूल स्वभाव को भूल कर विभाव में रमण करना आरभ कर देती है।

विमल बुद्धि से जो भगवान् की और मानवता की सेवा की जाती है वह उत्कृष्ट होती है लेकिन बुद्धि को विमल बनाने के लिये भी भगवान् की और मानवता की सेवा आवश्यक है क्योकि सेवा के ससर्ग से बुद्धि की गति में परिवर्तन होता है।

विमल बुद्धि के प्रभाव से विचार, वचन व व्यवहार की विमलता

विमल बुद्धि के प्रभाव से विचार, वचन तथा व्यवहार भी विमल बन जाता है। विमल बुद्धि सदा ही सत्य का अनुगमन करती है और सत्य का ही वरण

करती है। सत्य के मुँह को उज्ज्वल बनाये रखने के लिये वह सोने के पात्र को भी दूर फैंक देती है। इस का कारण है कि बुद्धि की विमलता मे कुटिलता का अस्तित्व नहीं रह पाता है। यह बुद्धि की कुटिलता ही होती है जो सत्य के मुह को सोने के पात्र से ढक देना चाहती है। बुद्धि की मलिनता मे ही सत्य का दमन किया जाता है तथा वैसी दशा मे विचार, वचन एव व्यवहार में भी स्वार्थ इस कदर घुस जाता है जो सत्य की बजाय सोने को अधिक महत्त्व देता है।

आप अन्तगड सूत्र का वर्णन सुन रहे हैं। उसमे देवकी माता के कथानक मे विमल बुद्धि का कितना सुन्दर प्रभाव दिखाई देता है। देवकी के छ पुत्र जो जन्म के साथ ही सुलसा के यहाँ पहुँचा दिये गये थे, अणगार बन गये याने कि दीक्षित हो गये। वे अणगार बन कर विमल बुद्धि के धारक बन गये। सोने के पात्र को उन्होने छोड दिया और सत्य के साधक हो गये।

इधर देवकी के पास तो उनकी सातवी सन्तान श्रीकृष्ण ही रह गये थे। वे सोचने लगी कि उनकी कुमारावस्था मे एक अतिमुक्तकुमार मुनि ने उनको भाग्यशालिनी बताकर कहा था कि वह महान् सन्तानों को जन्म देगी तो वे सन्ताने कहाँ हैं ? अभी अभी उन्होंने छ अणगारो को देखा था जो तरूण साधक मोहिनी आकृति वाले थे। उन्हे देखकर ही देवकी का विचार उभरा था कि भाग्यशालिनी तो सुलसा है, जिसके ये छ अणगार पुत्र हैं। फिर भगवान् के मुख से यह सुनकर कि वे छ अणगार उन्हीं के पुत्र है, वे बहुत झूरती है, श्रीकृष्ण उनको सात्वना देते हैं और देवकी माता भी सारी स्थिति को समझ जाती है। चूकि देवकी माता की बुद्धि विमल थी, अत उनके विचार की यत्किचित् भी मलिनता टिकी हुई नही रह सकी।

बुद्धि की मलिनता जब तक मिटती नहीं है तो विचार दशा भी स्पष्ट नहीं बनती है। कई व्यक्ति यह सोच लेते हैं कि किसी ने घर बार का परित्याग करके दीक्षा लेली तो उसकी आत्मा का कल्याण हो गया, फिर उसको कुछ करना नहीं है। वे नहीं सोच पाते कि दीक्षा लेने के बाद तो उसकी साधना का व्यवस्थित क्रम आरभ मात्र होता है। उस व्यवस्थित क्रम से उसकी बुद्धि मे विमलता का अधिकाधिक प्रवेश हो सकता है तो उसके विचार, वचन तथा व्यवहार मे भी विमलता का प्रभाव दिखाई दे सकता है।

बुद्धि की मलिनता
मोह से सम्बन्धित रहती है।

मोह के कुप्रभाव से बुद्धि मलिन बनी रहती है और जहाँ मोह का प्रभाव

होता है तो वह बुद्धि क्रोध मान माया लोभ आदि विषय कषायो से प्रभावित होकर विकारग्रस्त हो जाती है। वैसी विकारी बुद्धि चैतन्य तत्त्व के महत्त्व को भुला कर जड तत्त्वों के आकर्षण में फस जाती है। ऐसी विकारी बुद्धि ही सत्य के मुह को सोने के पात्र से ढकती रहती है।

बुद्धि की मलिनता को हटा कर उसको विमल बनानी है तो मोह का त्याग करना होगा। मोह का त्याग दो तरह से बनता है। एक तो शरीर के सम्बन्धों से अलग होना– विकारो के साधनों से दूर हटना तथा दूसरा विकारों की जडों को ही हटा देना तथा मोह की सूक्ष्म से सूक्ष्म दशा का पता लगा कर उसका भी त्याग कर देना। मोह की जडों को कैसे ढूढ पायेंगे ? पहले जब मोह के वृक्ष को नीचे गिरा देगे तभी तो एक-एक छोटी-छोटी जड का पता लगेगा उसको निकाल पायेगे। यदि व्यक्ति सोचे कि मैं वृक्ष को तो खडा ही रहने दू और जडो को ढूढू तो वह वैसा नहीं कर पाएगा। यदि व्यक्ति चाहे कि मैं अपने स्त्री पुत्रो के बीच रहकर मन की लहरो मे घूमता रहू और मोह तथा विकार की जडों को भी ढूढ लू तो ऐसा शक्य नही होता है। मोह की दशा का पता लगाना है तो वह आध्यात्मिक खोज के जरिये ही किया जा सकेगा।

आत्मा निर्विकार अवस्था मे शरीर के अन्दर सत्ता के रूप मे बैठी हुई है, लेकिन इस आत्म तत्त्व का पता सहसा ऊपर से नहीं लगता है। इस तत्त्व के ऊपर कई आवरण होते हैं। उन आवरणों के भीतर यह तत्त्व छिप जाता है। सबसे बडा आवरण तो स्वय शरीर है। फिर आवरण आता है मलिन बुद्धि का। कर्म बध का आवरण तो होता ही है। मलिन बुद्धि का आवरण भी ऐसा होता है जो सत्य को भीतर प्रविष्ठ नहीं होने देता। सत्य आत्मसात् नहीं होता, तब तक मोह आदि कर्मो के आवरणों का सही ज्ञान नहीं हो पाता है। मोह आदि विकारो का पता लगाने के लिये बुद्धि को विमल बनाने का प्रयास पहले आवश्यक होता है। बुद्धि जब सत्याभिमुखी हो जायगी तो आध्यात्मिक खोज भी सफल बन जायगी तथा मोह आदि विकारो को दूर करने की क्षमता भी उसमे आ जायगी।

विमल बुद्धि के साथ आध्यात्मिक ज्ञान एव सत्य की खोज

जो सासारिक प्रपचो में पडकर बुद्धि को मलिन नहीं होने देता है, वही अपनी विमल बुद्धि के साथ आध्यात्मिक ज्ञान एव सत्य की खोज मे निकल सकता है। जो सबसे पहले ससार के झझटो को छोडता है, उसी को आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस प्रकार ज्ञानमय कोष की अवस्था

के बाद प्राणमय कोष की अवस्था आती है। फिर मनोमय कोष की यौगिक अवस्था से गुजर का साधक विज्ञानमय कोष मे पहुँचता है। यह क्रम साहजिक योग का माना गया है। आगे की गतिविधियो से वह अपने वर्तमान स्वरूप को समझ कर मोह और विकारो को ढूढ पाता है। उसके बाद ही आध्यात्मिक ज्ञान एव क्रिया की सजगता बनती है और तब सत्य की खोज करने मे साधक सक्षम बन पाता है। यह सब बहुत ही गहरे पानी मे डुबकी लगाना है– सहज क्रिया नही है।

साधना की जो आध्यात्मिक प्रक्रिया है, वह क्या है ? यह सत्य को खोज निकालने की एक महान् वैज्ञानिक पद्धति है। जो स्वाभाविक तौर से गृहस्थ होता है, उसके मन मे जब ससार से वैराग्य पैदा हो जाता है तो वह दीक्षित हो जाता है। यह दीक्षा – यह मुनिधर्म सत्य को खोजने की ही तो पद्धति है। दीक्षा लेते ही मोह नही छूट जाता या कि आत्मा का कल्याण सम्पन्न नही हो जाता, बल्कि दीक्षा लेने से साधना को वह सुविधा मिल जाती है जहाँ से वह दत्तचित्त होकर सत्य की खोज मे आगे बढ सकता है।

सत्य की खोज करने वाले साधक जो कुछ भी जीवन निर्वाह के लिये ग्रहण करते हैं, समभाव के साथ ग्रहण करते हैं। सोने के पात्र से याने कि जड से वे अपना ममत्त्व तोड लेते हैं तथा सत्य की खोज में उनकी अन्तर्चेतना जागृत बन जाती है। सत्य का साधक न तो सत्य कहने मे सकोच करता है और न ही सत्य सुनने मे बुरा मानता है। वह तो कठोर सत्य का अभ्यासी बन जाता है। उसकी भावना मे निर्लिप्तता आ जाती है। वह सभी प्रकार के विकारों को छोडता जाता है अत उसके सत्याचरण मे राग द्वेष का पुट नही होता, समता भाव की श्रेष्ठ झलक होती है। जो सासारिक प्रपचो को प्रत्यक्ष रूप से छोड देता है, वही दीक्षित होता है तथा सत्य की खोज मे लगता है लेकिन जब तक उन प्रपचों के साथ परोक्ष रूप से भी वह अपना सम्बन्ध नहीं छोडता है तब तक सत्य की खोज सफल नही बन सकती है। सत्य साधक की समता वृत्ति परिपुष्ट हो जानी चाहिये।

सत्य साधक के लिये वीतराग ने कहा है कि उसको भारड पक्षी के समान विचरण करना चाहिये। वह स्वतत्र, स्वावलम्बी तथा आत्मनिर्भर हो तथा अपने आध्यात्मिक जीवन मे अप्रमत्त बन कर अनुशासन पूर्वक साधना करे। भारड पक्षी का वर्णन आया है कि उसके दो मुह होते हैं। एक मुह से वह चुगा चुगता है और दूसरे मह को चारो और घुमाता रहता है। वह एक क्षण के लिये भी असावधान नहीं होता तथा जीवन का खतरा मोल नहीं लेता। ऐसी ही अप्रमत्त भाव वाली सतर्कता

सत्य के एक साधक में होनी चाहिये। सत्य की सजग साधना ही सफल बनती है।

सोने के पात्र मे उलझने वाले इन्सान

सोने के पात्र में उलझने वाले इन्सान सत्य के साधक नहीं बन सकते हैं, बल्कि वे तो चेतन पर जड का प्रभुत्त्व लादकर कुटिलाई से सोने के पात्र से सत्य का मुह ही ढकने की कोशिश करते रहते हैं। पर-पदार्थों के वे दास होते हैं। उन्हे अपने स्वरूप ज्ञान के प्रति कोई रुचि नही होती। ऐसे इन्सान अगर दीक्षित भी हो जावे तो वे वास्तविक साधक नहीं बन सकते हैं। वे उद्दाम वासनाओ तथा अनियन्त्रित लालसाओ को लेकर अपने जीवन मे चलते हैं तो वे चाहे जितना ढोग करे, सत्य का कतई प्रतिपादन नही कर सकते हैं।

उपनिषद् का एक वाक्य है–"हिरण्यमय " अर्थात् सोने के पात्र से सत्य का मुह ढक दिया जाता है। अरे कौन व्यक्ति है, जो सोने का पात्र पा जाने पर दब नही जायगा ? सोने का पात्र कहो या सोना चादी अथवा मुद्रा कहो– एक ही बात है। यह परिग्रह है। परिग्रह की सहायता से बुरे से बुरा पाप भी छिपा दिया जाता है और सत्य को प्रकट नहीं होने दिया जाता है। सोने के पात्र में उलझने वाले इन्सान ससार के परिभ्रमण मे ही उलझे हुए रह जाते हैं। वे न तो आत्म स्वरूप को पहिचानते हैं और न ही परमात्म तत्त्व से प्रभावित होते हैं।

प्राचीन काल का एक रूपक है। एक राजा था और वह सुरा सुन्दरी का शौकीन था। अपने इन दुर्व्यसनो की पूर्ति के साथ उसकी यह भी इच्छा रहती थी कि फिर भी प्रजा जनो पर उसका बराबर प्रभाव बना रहे। फिर भी राजा के आचरण का प्रजा पर ठीक प्रभाव नहीं पडा और कई लोग उस राजा के विरोध मे आवाज बुलन्द करने लगे। राजा भी विचार मे पड गया कि इन लोगों को कैसे दबाया जावे ? वह उपाय सोच रहा था कि उसे एक विद्वान् मिल गया। अक्षर ज्ञान के विद्वान् किसी भी काम के लिये सोने के मोल बहुतेरे मिल जाते हैं। राजा ने उस विद्वान् से उन लोगो को दमन के बारे मे उपाय पूछा। विद्वान् ने झट कहा– राजन् मैं उपाय बता दूगा जिससे आपका विरोध बन्द हो जायगा तथा प्रजा आपको धर्मात्मा भी समझने लगेगी। राजा को ओर क्या चाहिये था, उसने कहा– बताइये। विद्वान् को अपनी आजीविका कमानी थी, बोला– राजन् प्रतिदिन आप मुझसे धर्मशास्त्रो का श्रवण कीजिये और धार्मिक चिन्ह लगाइये। इन बाहरी उपायो से प्रजा आपको धर्मात्मा समझने लग जायगी, फिर भीतर आप कुछ भी करते रहे। राजा को उपाय ठीक लगा। उन्होंने विद्वान को

प्रतिदिन एक सोने के टके पर इस काम के वास्ते रख लिया। इन गुरु और शिष्य की वृत्ति पर यह दोहा ठीक उतरता है–

गुरु लोभी चेला लालची, दोनो खेले दाव।
दोनो डूबे बापडे, बैठ पत्थर की नाव।।

एक बार उस विद्वान् को एक निकट सम्बन्धी के विवाह कार्य में जाना पडा तो सोने के टके की हानि न हो इसलिये वे अपने पुत्र को राजा के वहाँ धर्मशास्त्र सुनाने जाते रहने का कहकर बाहर चले गये। पुत्र तब राजा के पास गया। सयोग से पहले ही दिन एक ऐसा श्लोक आ गया जिसका अर्थ बताया तो राजा क्षुब्ध हो गया। श्लोक था कि जो मनुष्य तिल या सरसों के बराबर भी मास खाता है, वह नरक मे जाता है। राजा तो ढेर सारा मास खाता था, उसने सोचा कि उसकी क्या दुर्गति होगी। फिर धर्मशास्त्र सुनने से अब क्या मतलब है– यह सोचकर राजा ने उस पुत्र को रवाना कर दिया और कहा कि वह न आए। कुछ दिनो बाद विद्वान् आया व उसने सारी घटना सुनी तो वह बडा चिन्तित हुआ कि उसकी आजीविका चली गई।

विद्वान् साहस करके राजा के पास पहुँचा तथा कहने लगा– राजन्, मेरा पुत्र अनुभवी नहीं है, उसने आपको श्लोक का सही अर्थ नहीं बताया, मैं सही अर्थ निवेदन करना चाहता हूँ। राजा ने कहा– सुनादो। विद्वान् बोला– जो तिल सरसो जितना मास खाते हैं, वे नरक में जाते हैं, अधिक खाने वाले नहीं। आप तो अधिक अरोगते हैं सो आप तो स्वर्ग मे जायेगे। राजा खुश हो गये, उन्होंने आदेश दिया– पडितजी को आज दो सोने के टके देदो।

इस तरह सोने के पात्र मे उलझने वाले इन्सान सत्य का मुह ढक देते हैं।

सत्य का साधक निर्विकारी व निर्भय होता है

सत्य का साधक यदि प्रलोभन मे गिर जाता है तो वह सत्य तत्त्व को प्रकट नही कर सकेगा, क्योकि सामने वाला जिस तरह की बात सुनना चाहेगा, प्रलोभन के वश उसको वैसी ही बात सत्य कहकर सुनाई जायगी तथा ऐसी वृत्ति से सत्य का लोप होने लगेगा। अत सत्य के साधक को काम, क्रोध, मोह लोभ आदि के विकारों से मुक्त हो जाना चाहिये। जीवन मे निर्विकारी वृत्ति के आने पर ही सत्य की साधना को सम्बल मिलता है।

निर्विकारी हो जाने के बाद सत्य का साधक निर्भय भी हो जाता है। जहाँ भय है, वहाँ सत्य नहीं रहता– यह मानकर चलिये। निर्भय हो जाने पर ही नग्न सत्य सहन किया जा सकता है। कहा है सत्य कटु भी होता है तो कटु सत्य को सहन करने की क्षमता निर्भय साधक मे ही होती है।

चिन्तन के क्षणो मे आप भी सोचिये कि सत्य कहाँ मिलेगा, कैसे मिलेगा ? जहाँ तक व्यक्ति का मन विकृत है, लालसाओं के कारण गुलामी छाई हुई है और विषय भोगों की तरफ चाह दौड रही है तो वैसे व्यक्ति को भला सत्य कहाँ मिलेगा ? सत्य का साक्षात्कार उस साधक को होगा जो गहन तत्त्वों की खोज करते हुए जीवन की गहराई मे उतरता है तथा तन्मयता के साथ सदाचारी जीवन व्यतीत करते हुए भावनाओ की उत्कृष्ट श्रेणियो मे विचरता है। वह साहजिग योग प्रक्रिया को भी हृदयगम करके चलता है। स्त्री परिवार का प्रारभिक त्याग तो जरूरी ही है एक साधक के लिये, लेकिन उतने से त्याग से ही वह सन्तुष्ट नही हो जाता, उसके त्याग की ऊँचाइयाँ निरन्तर ऊपर उठती रहती है।

करना चाहेगे आप भी सत्य की साधना ? बनना चाहेगे आप भी निर्विकारी एव निर्भय चाह तो लेगे, लेकिन कोरे चाहने से काम बनता नहीं है। उस चाह को दिखाऊ न रखकर अगर उसे वास्तविक बना लेंगे तो सत्य की साधना मे उतरना कठिन नही होगा। भावना प्रबल होनी चाहिये लेकिन भावना प्रबल तभी होगी जब सोने चादी का याने कि जड पदार्थो का मोह छोड देंगे तथा समभाव ग्रहण कर लेगे। तब आपकी बुद्धि भी विमल बन जायगी तथा निर्विकारी एव निर्भय बन कर सत्य की साधना कर सकेगे। सत्य का सफल साधक अमर हो जाता है।



6

चांदी के टुकड़ों के साथ मृत्यु की प्रतीक्षा ?

अनन्त जिनेश्वर नित नमू
अद्भुत जोत अलेख।
ना कहिये ना देखिये,
जाके रूप न रेख।।

अनन्तनाथ परमात्मा को स्मृति पटल पर उभारने के लिये प्रार्थना की पक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। इस आत्मा ने अनादिकाल से अपनी स्मृति को ससार के वातावरण मे लगा रखी है। जब कभी भी स्मृति का प्रयोग किया जाता है तो सासारिक योग्य पदार्थो का नक्शा ही उभर कर आता है। जिन-जिन पदार्थो या तत्त्वों का यह आत्मा चिन्तन करती है, वे पदार्थ पाचो इन्द्रियो तथा मन के विषयो से सम्बन्धित होते हैं। इन्ही पदार्थो का वह चिन्तन तथा स्मरण करती रहती है तथा उनके घेरे से बाहर नहीं निकल पाती है-- यही बहुत बडी विडम्बना है।

आत्मा के अन्तर्स्वरूप में अनन्त शक्तियाँ भरी पडी है, किन्तु वह उनसे बेभान बनकर उन शक्तियो का नाशवान पदार्थों को प्राप्त करने में दुरुपयोग कर रही है। चादी के टुकडो के लिये चिन्तामणि रूप आत्मा अपने स्वरूप को विकृत बनाती हुई अपनी अनन्त शाश्वतता को भूल जाती है और मृत्यु की प्रतीक्षा मे भयभीत बनी रहती है। आत्मा की अपने स्वरूप के प्रति यही विस्मृति है कि वह अनादिकाल से इस ससार के भव चक्र में परिभ्रमण कर रही है।

ससार के नाशवान पदार्थो के साथ यह आत्मा जितना अपना गहरा सम्बन्ध जोडती है, उतनी इसकी निज स्वरूप से विस्मृति होती जाती है। इसलिए परमात्मा को स्मृति पटल पर उतारना हितावह है।

सांसारिक पदार्थो का उपयोग एव विवेक का प्रश्न

एक बहुमूल्य दर्पण किसी भाई को मिल जाय तो उस व्यक्ति का विवेकपूर्ण कर्त्तव्य यह होगा कि वह उस दर्पण का उपयोग जीवन की वृत्तियो को सुधारने मे करे। किन्तु जब वह उस दर्पण का उपयोग शरीर के रूप को सवारने और निरखने मे करता है तो वह भोग वृत्ति को ही उत्तेजना देता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति बढिया केमरा ले आवे तो वह उसका सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। चित्र लेने का उस का वस्तु विषय भावना और करुणा को उभारने वाला हो तो वैसे चित्रों से सहयोग ओर सद्भाव का वातावरण बन सकता है। इसके विपरीत वह उस केमरे से कामोतेजक चित्र खीचे तो वातावरण को विकृत बनाने की दृष्टि से वह कार्य उस केमरे का दुरुपयोग होगा।

मुख्य प्रश्न यह है कि आप जिस रूप में सासारिक पदार्थो का उपयोग करते हैं, उसका परिणाम क्या आता है– यह देखने और सार निकालने की बात है। एक पदार्थ का आपने इस प्रकार प्रयोग किया कि उससे भावनाओ मे तरलता और सरलता आई तो उस उपयोग को सदुपयोग कहेंगे। क्योकि उससे न्यूनाधिक अश मे ही हो, आत्म स्वरूप उज्ज्वल बनता है। लेकिन पदार्थो का इस रूप मे उपयोग किया जावे कि जिससे वासनाओ की लिप्तता बढे और विषय विकारो के मद चढे तो उस उपयोग को दुरुपयोग कहेगे।

एक ही पदार्थ का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। यह उपयोग करने वाले पर निर्भर करता है और उपयोग करने वाले की कसौटी का अपना विवेक। यदि वह विवेकशील है तो किसी भी पदार्थ का अधिकाधिक सदुपयोग करेगे तथा हर प्रकार से उसके दुरुपयोग को बचाना चाहेगा। लेकिन यदि व्यक्ति विवेक शून्य हुआ तो वहॉ अच्छे पदार्थो के भी दुरुपयोग की ही स्थिति अधिक रहेगी। एक तकली होती है जो सूत कातने के काम में आती है। यही उसका उपयोग है। लेकिन विवेक शून्य व्यक्ति उस तकली से किसी दूसरे की आख फोड सकता है तो अविवेकी के हाथो एक अच्छी चीज का भी घोर दुरुपयोग हो जाता है।

व्यक्ति के विवेक पर यह आधारित है कि आत्म कल्याण का लक्ष्य अविचल रखते हुए किस प्रकार सासारिक पदार्थो का अधिकतम सदुपयोग किया जाय। जीवन मे विवेक को और सद्विवेक को विकसित करने की समस्या ही सबसे बडी समस्या है। यही सोचिये कि आप बिना कोई जिज्ञासा, लगन या

उत्साह रखे यहॉ व्याख्यान सुनने आ जाते हैं या कि सामायिक कर लेते हैं कि पर्यूषण पर्व है और महाराज का चातुर्मास है- इतना भी नही करेगे तो लोग क्या कहेगे ? मैं आपसे पूछू कि यदि इस भाव से आपका यहॉ आना होता हे तो क्या उसमे विवेक का अस्तित्त्व है ? क्या आपमे अपने जीवन का ही मूल्याकन करने की कोई दृष्टि है ? विवेक जब विकसित होता है तो ही ये सारे काम लगन और उत्साह से किये जाते हैं।

भविष्य की चिन्ता छोडकर पहले वर्तमान को भव्य बनाइये

मै तो कहूगा कि इस मानव जीवन को ससार के रगडो झगडों से पृथक् रखकर कम से कम चातुर्मास मे तो अधिक से अधिक सन्तों के सम्पर्क में रहे, बल्कि पर्यूषण के आठ दिनो मे त्याग प्रत्याख्यान करते हुए स्वय सन्त जीवन का अनुभव करे। इसलिये विवेक इस रूप मे जागृत बनना चाहिये कि धार्मिक क्रियाएँ दिखाने और लोक लज्जा के भय से न करके अपने आन्तरिक उत्साह के साथ करे। इस उत्साह के साथ जब उभरती हुई जिज्ञासाओं का सही समाधान प्राप्त किया जाता है तो उससे तत्त्वो का सही ज्ञान भी होता है तथा उन्हे ग्रहण करने की अभिरुचि भी बढती है।

आपको यह धारणा भी बनाने की आवश्यकता नहीं है कि जो कुछ धार्मिक क्रियाएँ की जायगी, उनका फल तो परलोक में मिलेगा, आज तो उनका कोई लाभ नहीं है। मैं तो कहता हूँ कि भविष्य की चिन्ता छोडकर पहले वर्तमान को भव्य बनाइये। ये जो धार्मिक क्रियाएँ हैं वे आपकी वर्तमान मे रही हुई वृत्तियों और प्रवृत्तियो को सुधारने के लिये है। इन से आपका आचरण सुधरेगा तो व्यवहार सुन्दर बनेगा। पहले तो इनसे आपका वर्तमान ही भव्य बनेगा और जब वर्तमान भव्य बन जाता है तो भविष्य तो स्वत ही भव्य बन जायगा– उसके लिये चिन्ता करने की कोई बात नहीं है।

सन्तो के प्रवचन आप जो सुनते हैं, उन्हे यदि ध्यान और दिल लगा कर सुनें तो वर्तमान को भव्य बनाने वाली ऐसी-ऐसी जानकारी तथा अनुभूतियॉ मिलती हैं, जिनको लाखो रुपये देकर आप खरीदना चाहो तो बाजार मे नहीं मिल सकती है। कदाचित् विद्वानों को धन देकर किसी भाषण माला का आयोजन करालें तो वह आयोजन व्यापारिक वस्तु की तरह कलाबाजी का होगा। जो विद्वान् भाषण देगे, उनमे भी चारित्रिक पुट का अभाव ही मिलगा। जीवन निर्माण की आन्तरिक शक्ति तो आपको सन्तो के प्रवचनों से ही प्राप्त हो

सकेगी, क्योकि उनके प्रवचन सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य के धरातल पर उद्भूत होते हैं और उनमे आत्मिक अनुभूति भरी हुई होती है। यह अवश्य है कि प्रवचन देने वाले सन्त नि स्वार्थ भाव से सयमी जीवन की सच्ची आराधना करने वाले हो। ऐसे सन्तो की वाणी का ही आपके मन पर गहरा असर हो सकता है कि आप चन्द चादी के टुकडो के लिये बरबाद कर रहे अपने इस अमूल्य जीवन को सम्भाल लो और उसे आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर बना दो।

अपने वर्तमान को भव्य बनाने के लक्ष्य को ही प्रधानता दी जानी चाहिये। और इसके लिये यह देखने की आवश्यकता होगी कि वर्तमान में आपका जीवन किस धारा में चल रहा है, वह धारा कितनी सही और कितनी गलत है तथा उस धारा को भव्यता की ओर अग्रसर बनने के लिये किस दिशा मे कितने वेग से मोडनी चाहिये ?

वर्तमान जीवन पर एक दृष्टिपात और उसे भव्य बनाने के चरण

समग्र रूप से आप अपने वर्तमान जीवन पर एक दृष्टिपात करे तथा अपनी विभिन्न वृत्तियो एव प्रवृत्तियों का विश्लेषण अपने मानस मे ले तो उससे ज्ञात हो सकेगा कि इस समय जीवन किस तरह की धारा मे चल रहा है ?

क्या यह सही नहीं है कि आज अधिकाश ससारजन केवल चादी के टुकडो को अपने सम्पूर्ण जीवन का एक मात्र लक्ष्य बनाकर चल रहे हैं ? पैसा कमाना, पैसा कमाना– यह सारे दिल दिमाग पर छाया हुआ है। जो कमाया है उसे सम्भाल कर रखने तथा अधिक से अधिक कमाने की दौड मे भागते रहने में ही सारी जिन्दगी बीत जाती है। वृद्धावस्था आ जाय, अग-उपाग जर्जर हो जाय और शक्ति नही चले तब भी पैसे की लालसा मिटती नही है। चादी के टुकडो की चाह के साथ मृत्यु का भय सामने लटकता रहता है। तृष्णा और मृत्यु– दोनो मे जैसे होड लगी रहती है। फिर भी मृत्यु सामने आ जाती है तब तक भी तृष्णा मिटती नही है। ऐसा वासनालिप्त जीवन बन गया है कि आत्म कल्याण की अभिलाषा भी नहीं बन पाती है।

यह धन कमाने की दौड धूप और होड इतनी जटिल बन गई है कि इस क्षेत्र मे नैतिकता समाप्त होती जा रही है। अनैतिकता, बेईमानी और धोखाधडी का इतना चलन हो गया है कि इस दोड में सदाचरण को निभाते हुए चलना भी अशक्य हो गया है। धन की तृष्णा अनियत्रित हो गई है क्योंकि धन से ससार की प्रत्येक वस्तु खरीदी जा सकती है। यहाँ तक कि धन कीर्ति भी

खरीदता है और धर्म के क्षेत्र मे भी कई बार हलचल मचा देता है। धन के इस बढते हुए प्रभाव ने मानवीय मूल्यो को क्षीण बना दिया है। धन बडा और इन्सान छोटा हो गया है। ऐसा भयावह बना हुआ है आज का वर्तमान सासारिक जीवन।

जब बाहर का समूचा वातावरण लोलुपता मे रगा हुआ हो तो मन की चचलता को कहाँ तक रोक पायेंगे ? आध्यात्मिक जीवन का कितना ही महत्त्वपूर्ण उपदेश चल रहा हो, मगर मन दौडकर सौदे सट्टो मे पहुँच जाता है और नोटो की गिड्डीयाँ गिनने लग जाता है। ऐसे लोगो का मन अशान्त, वचन वितडावादी ओर व्यवहार भ्रष्ट बन जाता है। एक-एक व्यक्ति का व्यवहार भ्रष्ट बन कर एक भ्रष्ट समाज का निर्माण करता है। क्या आज की सामूहिक भ्रष्टता कर ऐसा ही धरातल नहीं है ?

ऐसे वर्तमान जीवन को भव्य बनाने की दिशा मे आज चरण उठने चाहिये। पहले जीवन में से विकारों को निकालना होगा– चादी के टुकडो पर पलने वाली तृष्णा और ममता को मिटाना होगा, तब जीवन का सामान्य स्तर बन सकेगा। भव्यता तो उसमे श्रेष्ठ मानवीय गुणो के विकास से उत्पन्न होगी। इस दिशा मे आगे बढने के लिये जीवन की वर्तमान धारा मे क्या-क्या मोड लाये जाये–इस पर सैद्धान्तिक एव व्यवहारिक दृष्टि से गभीर चिन्तन किया जाना चाहिये तथा वीतराग प्रभु की आज्ञाओं के अनुसार जीवन का नव निर्माण किया जाना चाहिये।

जीवन का नव निर्माण
अन्तर्दर्शन की ओर बढे !

जीवन का नव निर्माण अन्तर्दर्शन की ओर बढना चाहिये। अन्दर कुछ हम देख सके – परख सकें, तभी इस जीवन में कुछ वास्तविकता आ सकती है। बाहर का दर्शन करते-करते अनन्त जीवन व्यतीत हो गये फिर भी तृप्ति नहीं मिली है और न ही कुछ सारपूर्ण परिणाम निकला है। सुबह भोजन किया तो शाम को भूखे के भूखे ही दिखाई दिये हैं। सुबह वस्त्र पहने तो शाम को मैले हो गये। शाम की रोटी का जुगाड किया और मैले वस्त्र धोये तथा इस प्रकार शाम सुबह करते-करते जीवन समाप्त होता चला जा रहा है। किन्तु क्या कभी ऐसी धगश भी पैदा होती है कि कुछ आत्म कल्याण का साधन भी जुटाया जाय ? जब ऐसी धगश पैदा होगी, तभी जीवन का नव निर्माण आरम हो सकेगा।

अभी तो आप बेशक चादी के टुकडे जमा करने में लग रहे हैं, लेकिन उनके स्वरूप के विषय मे ज्ञान भी किया है या नहीं ? ये चादी के टुकडे मृत्यु के समय साथ मे चलने वाले नहीं है। इस बात की भी गारटी नही है कि पूरी जीवन तक ये अपने पास सुरक्षित बने ही रहेगे। न मालूम इन पर किन-किन की निगाह किस रूप मे लगी हुई है ? चोरी हो जाती है, आग लग जाती है, जेब कट जाती है या व्यापार में घाटा लग जाता है, मगर यह इच्छा नही होती कि अपने पैसे से खुशी-खुशी किसी जरूरतमन्द की मदद कर दे। इतनी सी सहानुभूति और सहयोग भावना रखकर भी कोई अपने जीवन मे चले तो उसके जीवन का नव निर्माण प्रारभ हो सकता है तथा अन्र्दर्शन के माध्यम से आत्म स्वरूप मे भी यत्किचित् उज्ज्वलता निखर सकती है।

अन्तर्दर्शन की ओर बढेगे— भीतर झाककर देखेगे तो दिखाई देगा कि विषय भोगो की उग्र लालसाएँ भीतर ही भीतर उद्दाम बनी हुई हैं तथा वे उसी के अनुरूप विकारी सस्कारो का निर्माण कर रही है। उसके परिणामस्वरूप आत्म ज्योति के ऊपर एक के बाद एक करके नये-नये आवरण चढ रहे हैं और वह ज्योति मन्द से मन्द होती जा रही है। इन आवरणों को हटाने तथा पर्तो के नीचे दबे हुए निज स्वरूप को उभारने से ही नव निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो सकेगी जिसके लिये दिन रात मे कुछ न कुछ समय तो निर्धारित किया ही जाना चाहिये। जब ऐसी भावना तात्त्विक बुद्धि के साथ मन में जागृत होगी तो भगवान् अनन्तनाथ की प्रार्थना मे उन्नति के सोपान अवश्य दिखाई देंगे। तब भगवान् का स्वरूप स्मृति पटल पर उतर जायगा और उनकी अद्‌भुत ज्योति की झलक दृष्टि पथ में आ जायगी।

मृत्यु का भय छोडकर
अनन्त के पथ पर पग धरे !

ससार के विषय भोगों मे फसे हुए मनुष्य के लिये सबसे बडा भय होता है मृत्यु का भय। वह हर वक्त मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहता है और भयभीत होता रहता है। मृत्यु उसके लिये उस तलवार की तरह होती है जो एक बाल से बधी सिर पर लटकती रहती है तथा जिसके लिये प्रतिपल यह अन्देशा बना रहता है कि न जाने किस क्षण मे वह बाल से टूट कर गिर जाय और सिर को छेद डाले। इस भय के मारे वह अपने अर्जित सुख को भी चैन से भोग नही पाता है।

किन्तु जिसने भगवान् अनन्तनाथ की प्रार्थना मे अपना मन लगा दिया, समझिये कि मृत्यु का भय उससे भाग गया। परमात्मा की प्रार्थना करने वाला परमात्मस्वरूप को भी समझता है। उसे ज्ञान हो जाता है कि आत्मा कभी मरती नहीं, वह तो अमर है। मरता तो केवल शरीर है जो आत्मा के लिये पुराना वस्त्र फैंक कर नया वस्त्र धारण करने के समान होता है। आत्मा की अमरता मे विश्वास हो जाने के कारण उसका मृत्यु भय दूर हो जाता है। वीतराग वाणी मे दृढ आस्था बनाकर जब वह जीवन का नव निर्माण करता है तो एक प्रकार से वह अनन्त के पथ पर अपने कदम बढाता है। अनन्त भगवान् का पथ स्वय इस आत्मा को परमात्मा बना देने का पथ है।

प्रार्थना की पक्तियो के उच्चारण के साथ अनन्त जिनेश्वर के दिव्य स्वरूप को अपने स्मृति पटल पर उभारना है। आप पूछेगे कि महाराज, उभारने का रास्ता तो बताइये। मैं कहना चाहता हूँ कि जिसके अन्त करण मे जितनी सच्ची जिज्ञासा होती है, उसको उस के अनुसार रास्ता मिल ही जाता है। आवश्यकता आविस्कार की जननी होती है। जिस दिन अन्त करण मे उस अनन्त शक्ति को आविष्कृत करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जायगी– आवश्यकता का अनुभव हो जायगा, उसी समय उस तरह का मार्ग भी मिल जायगा– यह एक निश्चित सत्य है।

जब वह मार्ग मिल जायगा तो जानते हैं, क्या होगा ? बहुत समय का प्यासा व्यक्ति जिस प्रकार पानी के साथ चिपकता है– मुह से पानी के बर्तन को छोडता नहीं है, उसी प्रकार जब मार्ग मिल जायगा तो उस पर से चरण कभी डोलायमान नहीं होंगे। तब वह भगवान् अनन्त नाथ के स्वरूप की अद्‌भुत ज्योति को प्रकट किये बिना कभी भी विश्राम नहीं लेगा। अनन्त के पथ पर एक बार पग धर दिया तो वह वह मजिल पर पहुँच कर ही रूकेगा।

अन्तरानुभूति का रसास्वदन एव आत्म स्वरूप का स्पन्दन

अन्तगड सूत्र का वाचन इस पर्यूषण पर्व के अवसर पर आठों दिन प्रतिवर्ष किये जाने की परिपाटी है। कोई प्रश्न करे कि इसको पुन पुन वाचन की क्या जरूरत है तो उसका उत्तर है कि जिसे अन्तरानुभूति का एक बार रसास्वादन हो जाता है, वह उस रस का बार-बार पान करना चाहेगा। आन्तरिक जीवन को पहिचानने परखने की जिसकी प्रबल इच्छा हो जाती है, वह महापुरुषो एव भव्य आत्माओ के चारित्र को बार-बार सुनना चाहता है

क्योंकि उसमे से उसे नित्य नये-नये सत्य का भान होता रहता है। वास्तव मे तो ऐसे चारित्र प्रतिदिन भी सुने तो उनसे उत्थान का मार्ग अधिक सहज ही बनेगा। इन चारित्रो में वे आदर्श भरे पडे हैं जो आत्म स्वरूप को स्पन्दित कर देते हैं।

जिस साधक का आध्यात्मिक अन्तर्ज्योति से लगाव हो जाता है तो उसका अकुर अन्दर मे प्रस्फुटित हो जाता है। फिर साधक सदा उस अकुर को अभिवृद्ध बनाते हुए उसको पल्लवित, पुष्पित तथा फलित बनाना चाहेगा–उसको सुखा देना कभी पसन्द नहीं करेगा। उसको उखाडने या दबाने की भी वह कतई कोशिश नहीं करेगा। वह जानता है कि जब यह अकुर पूर्णतया विकसित हो जायगा तो वह विकास ही उसके आत्म स्वरूप का सर्वोच्च विकास होगा। वह इस भावना से उस अकुर का निरन्तर पोषण करता हुआ चला जाता है तथा एक दिन तब उसका अमर फल भी वह प्राप्त कर लेता है।

अन्तगड सूत्र के प्रसग से किन-किन महापुरुषों का वर्णन आप सुनते हैं ? गजसुकुमाल मुनि को कैसा कठिन परिषह आया ? महारानी देवकी के मन मे क्या तीव्र जिज्ञासा पैदा हुई ? अन्य चारित्रो मे भी आपको सारपूर्ण तत्त्व क्या लगा ? क्या उनका श्रवण करके आपके अन्त करण में हर्ष की अनुभूति नहीं हुई ? क्या उनसे आपको आन्तरिक आनन्द का रस नही मिला ? क्या उनकी आत्मोन्नति की यात्रा का विवरण सुनकर आपके आत्म स्वरूप मे स्पन्दन नही फैला ? आप स्वय इन सारे प्रश्नो के उत्तर अपने हृदय मे खोजे और अनुभव करे कि गुणीजनो का गुणमय जीवन सदा काल विकासशील आत्माओ को भव्य प्रेरणा प्रदान करता है। गुणीजनो का जितना सत्कार किया जाय, उतना ही जीवन मे उन गुणो का साकार रूप अकित होगा।

आज बीज बोयेगे
तो कल फसल भी उगेगी

शास्त्र के कथन मे वह सार ढूढना है कि जिसको पकडकर आत्मा अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित कर सके। शास्त्र या सूत्र का तात्पर्य यह है कि जिसमे अक्षर अल्प हो किन्तु उनका अर्थ विराट् हो। वे अक्षर बीज रूप होते हैं। वट वृक्ष का बीज आपने देखा है ? वह राई से भी छोटा होता है और जानते हैं वट वृक्ष फैल कितना जाता है ? वट वृक्ष फैलता है तो एक ही वृक्ष मीलो तक फैल जाता है। कितना छोटा बीज और कितना विशाल वृक्ष ? इसी प्रकार छोटे-छोटे सूत्र गागर में सागर के समान अपने भीतर महान् अर्थ भरे रहते हैं।

ये सूत्र आत्मा की भूमि पर बीज रूप होते हैं। ऐसा बीज जिसमे विराट् विश्व का स्वरूप समा जाय और जो किसी प्रकार से खडित नहीं हो।

आत्मा की भूमि पर आज इन बीजो का आप बोयेंगे याने कि सूत्रों की आज्ञाओ के अनुसार अपने समग्र जीवन का निर्माण तथा सचालन करेगे तो कल फसल भी अवश्य उगेगी। जैसी किसान बोये हुए बीजो की अपने प्राणों से भी बढकर रक्षा करता है तथा उनके अकुरित एव पल्लवित होने के सभी साधन जुटाता है, उसी प्रकार एक साधक को भी सूत्रों की आज्ञाओ को हृदय में बसा लेना चाहिये तथा तदनुसार ही अपने आचरण को ढाल लेना चाहिये। उन आज्ञाओं के पालन से जो गुण जीवन मे फलीभूत होगे, जो शक्तियॉ वहॉ प्रकट होगी, वे ही उन बीजो के पत्ते, फूल और फल के रूप में प्रतीत होगी। सूत्र के बीजों से जब सम्यक् ज्ञान, दर्शन चारित्र्य की फसल आत्मा के धरातल पर लहलहा उठेगी, उस समय कल्पना नही कर सकते कि आत्म स्वरूप कितना सुदर्शनीय बन जायगा।

ममता से समता
अपरिग्रह से अमरता

चादी के टुकडो से मोह छूटेगा तभी अपरिग्रह के महाव्रत का पालन हो सकेगा तथा समता के सद्‌गुणो का विकास समव बनेगा। समता के सद्‌गुणों के विकास के साथ ही आत्म स्वरूप मलिनता त्याग कर उज्ज्वलतर बनता जायगा। उन्नति की यह गति बनी रहे तो इसमे कोई शका नहीं कि वह आत्मा एक दिन स्वय परमात्मा बन जावे। याद रखे कि परमात्म पद को प्राप्त करके आत्मा मृत्यु को जीत कर अमर बन जाती है।



7

समता : मति की, गति की, दृष्टि की

अनन्त जिनेश्वर नित नमू,
अद्भुत जोत अलेख।
ना कहिये ना देखिये,
जाके रूप न रेख।।

आत्मा के परम पवित्र अनन्त स्वरूप को विकसित करने के लिये प्रति दिन, प्रति घडी, प्रति पल भगवान् अनन्तनाथ को नमस्कार करना है। नमस्कार करने वाला नमस्करणीय महापुरुष के प्रति अपनी नम्रता का अनुष्ठान करता है। इसे अनुष्ठान इसलिये कहना चाहिये कि जहाँ नमनीय भावना का व्यवहार होता है, वहाँ अहकार की दीवार ढह जाती है। जहाँ नम्रता आ जाती है, वहाँ अहवृत्ति समाप्त हो जाती है। बडा से बडा लाभ मिल जाने पर भी जिसका अहकार जागृत नहीं होता, वह आत्मा सही अर्थो में सम्यक् दृष्टि तथा समदृष्टि बन जाती है।

दृष्टि सम होती है तब, जब गति सम होती है और मति सम होती है तो गति और दृष्टि दोनों सम बन जाती है। मति, गति एव दृष्टि के सम हो जाने पर समता पूर्णता प्राप्त करती है।

सम्यक् दृष्टि एव समदृष्टि की समतापूर्ण अनुभूति

अहकार विषमता का जनक होता है, इसलिये जब अहकार समाप्त हो जाता है तो विषमता भी मिट जाती है। विषमता मिटती है तो आत्मा मे सम्यक् दृष्टि एव समदृष्टि पैदा होती है। इसके बाद आत्मा क्षायिक भाव के साथ जुडती है। ऐसी आत्मा किसी स्थान पर रहे– स्थान चाहे छोटा हो या बड़ा, दुखदाई

हो या सुखदायक, घास की झौंपडी हो या भव्य भवन— सदा समभाव के साथ मे समतापूर्ण अनुभूति ग्रहण करेगी।

सभी प्रकार की अवस्थाओ में सम्यक् दृष्टि आत्मा का विलक्षण व्यवहार दृष्टिगत होता है, जो सबको प्रभावित बनाता है। यही कारण है कि इन पर्यूषण के पवित्र दिनो मे ऐसे श्रेष्ठ महापुरुषो के चरित्र का अन्तगड सूत्र के माध्यम से पठन वाचन होता है। इस सूत्र मे जिन-जिन महापुरुषो के चरित्र का जिस-जिस रूप मे वर्णन आया है, उस वर्णन से प्रत्येक समदृष्टि की अभिलाषिणी आत्मा को दिव्य प्रेरणा मिलती है।

आज का मानव क्षणिक ऋद्धि प्राप्त करके भी अभिमान से फूला नहीं समाता है। धन मिले तो अहकार, बल हो तो अहकार, लेकिन शिक्षा प्राप्त करके भी आज अहकार फेल जाता है। अक्षर ज्ञान की दृष्टि से डिगरियॉ प्राप्त करके किशोर और नौजवान भी इस कदर अभिमान से भर उठते हैं कि वे अपने बडे बुजुर्गो का भी ख्याल नहीं रखते और उनकी अवमानना कर देते हैं। आधुनिक शिक्षा प्रणाली का भी कुछ ऐसा दोष है कि शिक्षित अपने को बहुत बडा मान लेता है, जबकि विद्या के साथ विनय का प्रवेश होना चाहिये।

अहकार जब फैलता है तो उसके साथ ईर्ष्या भी पनपती है, जिसके कारण मनुष्य दूसरों को नीचा दिखाने या नीचे गिराने की चेष्टा करता रहता है और राग द्वेष की गहरी वृत्तियो में गिरता हे। जब कषाय बढता है तो आचरण मे गिरावट आती है। इसलिये मूल में अहकार को हटाया जाय तो विनय भाव आ जाने के कारण समता भाव का आना सहज बन जाता है। अहकार पहले मन से शुरू होता हो तो विनय का उदय भी मन ही में होता है और समता भी मन ही मे जन्म लेती है। मन मे प्रकट होने वाली समता का पहला असर बुद्धि पर पडता है। समता मति मे प्रविष्ठ हो जाती है तो उस आत्मा की गति— चाल भी समभाव से युक्त बन जाती है। मति और गति में साम्य आ जाने पर दृष्टि मे समता की झलक पैदा हो जाती है। समदर्शी हो जाना समता का सर्वोच्च विकास प्राप्त कर लेना होता है।

समता मति की, समता गति की और समता दृष्टि की क्रमानुसार जुड कर पूर्ण समता का सुखद चित्र अकित कर देती है।

विपुल वैभव के बीच मे भी विनय की निरहकारी वृत्ति

त्रिखडाधिपति वसुदेव महाराज के पास जितने विपुल वैभव की स्थिति

थी, उतना क्या आज किसी के पास है ? मैं समझता हूँ कि उनके वैभव की तुलना आज के किसी भी समृद्ध राष्ट्र से भी नहीं की जा सकती है। इतने विपुल वैभव के बीच में स्वामी के रूप मे रहते हुए भी वे विनय की निरहकारी वृत्ति को धारण किये हुए थे। यही उनकी आत्मा का सम्यक् दृष्टिपना था। उनकी बुद्धि मे अहकार के चरण का प्रवेश ही नही हो पाया था– यह आपको चरित्र वर्णन की दृष्टि से ज्ञात हुआ ही होगा कि कृष्ण महाराज अपनी देवकी माता का कितना विनय करते थे। राज काज मे भारी व्यस्तता के बाद भी वे माता के पद वन्दन का अपना कर्त्तव्य कभी नही भूलते थे।

एक दिन सदा की तरह वे देवकी माता के पद वन्दन के लिये पहुँचे तो उन्होने देखा कि माता बहुत उदास है। नम्र भाव से पूछा– मातेश्वरी जी, आपको आज किस बात की चिन्ता व्याप्त हो गई है ? क्या मुझसे कोई त्रुटि तो नहीं हो गई ? आप जानते ही हैं कि मॉ ने जब अपनी सन्तान व्यथा की बात कही तो श्री कृष्ण तुरन्त अपनी वैक्रिय लब्धि से छोटे से शिशु बन गये और मॉ की गोदी मे मचल कर किलकारिया भरने लगे। मॉ के बहते हुए आसू रूक गये और वह भाव विभोर होकर नन्हे कन्हैया का मुह चूमने लगी। माता को वात्सल्य भाव से तृप्त कर देने के लक्ष्य से बाल कृष्ण ने तुतलाती हुई बोली में कहा– मुझे दूध पिलाओ। दूध लाया गया तो हठ करने लगे– फीका है। उसमें शक्कर डाली गई तो रोने लगे कि दूध बहुत मीठा हा गया है, इसमें से शक्कर वापिस निकालो। उन्होने कुछ समय मे ही बाललीला का ऐसा मनमोहक दृश्य उपस्थित किया कि देवकी माता एक बार अपनी सारी व्यथा भूल गई कि वह पहले की छ सन्तानो की अपनी गोद मे नही खिला सकी तो सातवी सन्तान श्री कृष्ण का लालन पालन भी गोकुल मे हुआ।

यह श्रीकृष्ण का अद्‌भुत विनय था कि अपनी माता की व्यथा को दूर करने के लिये उन्होने सारा नाटक रचा। कितना बडा पद उनका, कितना वैभव और कितनी व्यस्तता– लेकिन माता की क्षणिक सन्तुष्टि के लिये भी वे जुट गये। ऐसी नम्रता सम्यक् दृष्टि आत्मा मे ही प्रकट होती है। सम्यक्त्व अगीकार करके भी कोई मन मे अहवृत्ति को लेकर चले तो मानना होगा कि उसके सम्यक्त्व मे वास्तविकता नहीं आई है। आप भी अपने दिल को टटोलिये और पर्यूषण पर्व के अवसर पर आत्मशुद्धि करते जाइये। यदि अहकार को हटा दिया तथा विनय वृत्ति धारण कर ली तो काफी अशों में आत्मशुद्धि का कार्य बन जायगा। आत्मशुद्धि के साथ सम दृष्टि का विकास कीजिये।

समता जब मति, गति ओर दृष्टि मे समा जाती है तो वह वस्तु स्वरूप को यथावत् देखने लग जाता है। वैभव को वैभव के स्थान पर देखता है, लेकिन आत्मस्वरूप को उससे जुडा हुआ नहीं देखता। पट की जगह पट को देखता है तथा पट को हटाकर स्वरूप प्रकाशन मे विश्वास रखता है। किसी भी स्थान पर वह अपने समभाव को पतित नही होने देता है। वह महिमामय अपने स्वरूप को ही ग्राह्य एव उपादेय समझता है। वह स्वय समता की श्रेष्ठ साधना करता है तथा ससार के भव्य प्राणियो को उस साधना मे लगाने के लिये तत्पर रहता है।

समभाव के धरातल पर से समता साधना की ऊँचाइयो में उड चलने का गजसुकमाल का कितना दृढ सकल्प था– इस तथ्य का ही यह प्रमाण है कि दीक्षा लेते ही मुनि गजसुकमाल भगवान् अरिष्टनेमि से निवेदन करते हैं– हे भगवान् मुझे वैसा मार्ग बताइये कि उस पर चलकर मैं अतिशीघ्रता से परम सिद्धि का वरण कर लू।

सिर पर धधकते अगारे और समता की सर्वोत्कृष्ट श्रेणी

भगवान् तो गजसुकमाल का भविष्य जानते ही थे। उन्होने रास्ता बता दिया। गजसुकमाल मुनि ने बारहवी भिक्षु पडिमा साधने का निश्चय किया और वे रात्रि के समय श्मशान मे ध्यान धरने के लिये चल पडे। भगवान् ने नवदीक्षा के बावजूद उनको यह पडिमा साधने की आज्ञा दे दी थी जबकि 29 वर्ष से कम आयु और 20 वर्ष से कम दीक्षा वाले को इसकी आज्ञा नहीं दी जाती है। गजसुकमाल को दीक्षा लिये हुए तो 20 घटे भी पूरे नही हुए थे।

श्मशान की भयकरता के बीच मुनि गजसुकमाल ध्यानस्थ हो गये। उधर से सोमिल ब्राह्मण आया और उसने देखा कि जिसके साथ उसकी बेटी का ब्याह होने वाला था, वह गजसुकमाल तो दीक्षित हो गया है– वह आगबबूला हो उठा। उसने पास के नाले से गीली मिट्टी ली और मुनि के सिर पर पाल बाध दी। फिर पास की चिता से धधकते अगारे उठाये और उनको मुनि के सिर पर बाधी पाल में भर दिये। कहाँ तो हाथी के तालु के समान अत्यन्त कोमल शरीर, जो राज्य सुख में पला और कहाँ धधकते अगारे सिर पर धू-धू जलने लगे ?

उस भीषण कष्ट वेला में मुनि गजसुकमाल ने समत्व भाव को बनाये ही नहीं रखा, बल्कि वे समता साधना की सर्वोत्कृष्ट श्रेणी मे पहुँच गये। एक छोटी सी चिनगारी के भी हाथ छू जाय तो आप उछल पडेगे, लेकिन एक सुकोमल

शरीर पर धधकते अगारे भर दिये जाय और उसके बाद भी मति, गति एव दृष्टि की समता परिपुष्ट बन जाय– उस विकास का क्या कहना ? इस प्रकार की साधना तभी सध सकती है, जब भीतर के स्वरूप पर पडे सारे पटो को हटा दिया जाय तथा अन्त करण की गहराई मे आत्मिक तत्त्व को देखने का प्रयास किया जाय। कुछ ही क्षणो मे मुनि गजसुकमाल समता साधना के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये तथा उस उत्कृष्ट साधना के बल पर मोक्षगामी बन गये।

समता की साधना मे सफलता प्राप्त करने के लिये कोई निश्चित अवधि नही होती है। भावना का बल मन्दा हो तो पलो के काम मे कई वर्ष लग जाते हैं और फिर भी गारटी नहीं कि काम सम्पन्न हो ही जाय। भावना की श्रेणी दुर्बल बनी रहे या कि पतित बन जाय तो कई जिन्दगियाँ बीत जाने पर भी गति व्यवस्थित नहीं बने। किन्तु साधना उत्कृष्टतम भावना के बल पर देखते-देखते इस तरह सर्वोच्च श्रेणी तक पहुँच जाती है कि जिन्दगियों और वर्षो का काम पलो में पूरा हो जाता है। मुनि गजसुकमाल की छोटी सी आयु और दीक्षा एक दिन की भी पूरी नही हुई कि उन्हे मोक्ष प्राप्त हो गया। कल्पना करिये कि उनकी समता की साधना कितने भव्य त्याग, उत्कृष्ट समभाव तथा आदर्श चिन्तन के प्रभाव से इतने अल्प समय मे सफल बन कर मुक्ति लक्ष्मी की स्वामिनी बन गई ? उस अनुपम कर्म योगी ने किस योग निष्ठा के साथ शीघ्रता से अपने मूल स्वरूप को कैसे पहिचान लिया, कैसे उसके सारे आवरणो को हटा दिये और कैसे अपना निस्तार सम्पन्न कर लिया ?

ममता का त्याग मामूली नही होता है।

सोचिये कि अगुलियों पर नाखून होते हैं और आप उन्हे बढ जाने पर या तो स्वय काटते होगे या नाई से कटवाते होगे। जो ऊपर का पक्का हिस्सा होता है, उसके कटने से तो कोई कष्ट नहीं होता। लेकिन उसके नीचे के कच्चे हिस्से पर उपकरण जरा सा भी चला जावे तो एकदम चीख निकल जाती है। शरीर के जिन हिस्सों में आत्म प्रदेश वर्तमान होते हैं, उन पर जरा सी आच भी बर्दाश्त नहीं होती है। जानते हैं, ऐसा क्यो होता है ? कारण शरीर पर सबसे बढकर ममत्व होता है। अपनी सम्पत्ति पर– अपने परिवार पर कम ममत्व नहीं होता, लेकिन अपने शरीर पर रहे हुए गहरे ममत्व की तुलना मे वह ममत्व भी फीका पड जाता है।

इस तथ्य की अनुभूति ग्रहण करना भी कठिन होता है कि एक साधक सम्पूर्ण आत्म प्रदेशो के सक्रिय रहते हुए अपने शरीर पर से सम्पूर्ण ममत्व को हटा लेवे। ममता का त्याग मामूली नहीं होता। सिर पर लाल लाल अगारे धधक रहे हो और अन्त करण मे इतनी उत्कृष्ट समता समा जाय कि जैसे जल रहा शरीर अपना ही नही है। शरीर पर क्या गुजर रही है– वह देखता है, जानता है लेकिन पूर्ण रूप से ममत्व भाव को हटा देने के कारण उस भयकर पीडा को अनुभवता नही है। यह योग की– समत्व योग की विशिष्ट साधना के फलस्वरूप ही शक्य हो सकता है। मुनि गजसुकमाल द्वारा सहजिक योग की वह पराकाष्टा की साधना थी। सिर पर अगारे रखने वाला उनको शत्रु नहीं, बल्कि परम मित्र प्रतीत हो रहा था जो उनकी मुक्ति को त्वरित गति से प्राप्त कराने मे सहायक बना।

भावना का ऐसा मोड भी उसी आत्मा को मिलता है जो ममता को छोडकर समता में रमण करने लगती है तथा अपनी सम एव सम्यक् दृष्टि बना लेती है। वह आत्मा जो भी उसको मोह व ममत्व से विलग होने मे सहायता करता है, उसको अपना उपकारी मानती है। इस शत्रु और मित्र के भेद को आप भी इस छोटे से दृष्टान्त के माध्यम से समझिये कि आपके पैर मे काटा गड जाय और उस काटे को कोई व्यक्ति दूसरे काटे से गोद-गोद कर निकाल ले तो उसको आप अपना शत्रु समझेगे या मित्र ? अब आप ही सोचिये कि जो आपको ममता में बाधते हैं, वे आपके मित्र हैं या शत्रु ? और जो आपकी ममता को छुडा कर समता का मार्ग दिखाते हैं, उनको आप क्या मानें ? परीक्षक और उपदेशक चाहे कडवी बात भी कह देता है, लेकिन वह आपका शत्रु नहीं मित्र होता है क्योंकि वह आपको ममता के माया जाल से बाहर निकालना चाहता है।

यह ममता बडी मारक होती है। मिथ्यादृष्टि के साथ यह बडी मीठी लगती है लेकिन ज्यो ही सम्यक् दृष्टि विकसित हो जाती है तो ममता की असली कुरूपता स्पष्ट हो जाती है। भावना की उत्कृष्टता के बिना ममता का त्याग भी नही होता है किन्तु इसी भावना की परमोत्कृष्टता से समता की साधना भी शीघ्रातिशीघ्र हो जाती है।

समता की सफल साधना से अनन्त आनन्द की प्राप्ति

समभाव से विचार करने का प्रश्न है कि किसी बडे आदमी की मूछ का बाल कोई उखाडले तो मुकद्दमा हो जाय, लेकिन दादाजी की मूछ का बाल पोता

खेलते-खेलते उखाड डाले तो दादाजी खुश हो जाते हैं। इस तरह का समता का सामान्य ज्ञान भी आप हृदयगम करते रहें तो गजसुकमाल मुनि जैसा शान्त भाव आपके भीतर भी विकसित हो जायगा। याद रखिये, भगवान् अनन्तनाथ की प्रार्थना तथा समता की सफल साधना से अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी। आत्मा अपने सारे पर्दो को हटाकर जब सिद्ध, बुद्ध व निरजन पद को प्राप्त कर लेती है, तब अनन्त आनन्द सागर मे सदा सदा के लिये निमज्जित हो जाती है।

अन्तगड सूत्र सुनने का प्रसग पर्यूषण पर्व मे आता है। आप इसे सुने और चिन्तन करे कि पिछले बारह महीनों में कहाॅ-कहाॅ आपने मूछें तानी है और कितना राग द्वेष बढाया है ? सवत्सरी के अवसर पर सममाव लाकर सबसे क्षमायाचना करे तथा अपने अन्त करण को शुद्ध बनावें।

मुनि गजसुकमाल ने धधकते अगारो की जलन का अनुभव ही नहीं किया, महासती सीता जी ने अग्नि परीक्षा दी और कोई भी विकासशील आत्मा अपनी समता साधना को सफल बनाकर ऐसी शक्ति दिखा सकती है। आत्म शक्ति का सुप्रभाव किस सीमा तक बढ सकता है, इसका सामान्य व्यक्ति कोई अनुमान नही लगा सकता है। मूल बात यही है कि ममता का परित्याग किया जाय एव अपनी मति, गति तथा दृष्टि में पूर्ण रूप से समता का समावेश कर लिया जाय। समता की साधना जितने अशो मे सफल बनेगी, उतनी ही आत्म शक्ति प्रबल बनती जायगी।



8

सम्यक् दृष्टि आत्मा के पाँच लक्षण

अनन्त जिनेश्वर नितनमू

अनन्तनाथ परमात्मा के चरणो में जिस रूप मे एक व्यक्ति नमन करता है, उस नमन के अनुसार उसके आन्तरिक हृदय की वृत्ति परिलक्षित होती है। यह अनुमान लगता है कि उसके अन्त करण मे अपने विराट् आत्म स्वरूप को प्रकट करने की कैसी तीव्र भावना है। यह भावना जितनी अधिक तरल बनती है, उतनी ही मानव के हृदय की कठोरता घटती जाती है और कोमलता प्रसारित होती जाती है। तब उसके हृदय की कामना हृदय तक ही सीमित नहीं रहती है, वह वचनो के माध्यम से बाहर आती है एव व्यवहार मे कार्यान्वित होने लगती है। यह सुन्दर परिणति सामयिक नहीं होती, लेकिन सर्वदा के लिये आत्मा की प्रगति को इस दिव्य मार्ग पर गतिशील बना देती है। ऐसा मानव बारह शरीर की दृष्टि से दुनिया के अलग-अलग कामो मे लगा हुआ दीखता है, लेकिन भीतर से अपने चैतन्य तत्त्व के प्रति सदा सावधान और सदा श्रद्धावान बना रहता है। श्रद्धा की शक्ति श्रद्धा के लक्षण में प्रकट होती है और उसका सुप्रभाव तब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे दिखाई देने लगता है।

परमात्मा की प्रार्थना के माध्यम से ऐसी सुन्दर परिणति जिसकी आत्मा में प्रकट होती है तो समझना चाहिये कि उस आत्मा के अन्तर्पटल पर सम्यक् दृष्टि का सम्भाव जागृत हो गया है। शास्त्रों में सम्यक् दृष्टि आत्मा के जो लक्षण बताये गये है, वह आत्मा उन लक्षणो को अपने जीवन मे अभिव्यक्त करने का अथक प्रयास करती है।

दृष्टि कितनी सम्यक् हुई है उसके प्रतीक पाच लक्षण

शास्त्रकारो ने सम्यक् दृष्टि आत्मा के पाच लक्षणों का उल्लेख किया है। ये पाच लक्षण हैं– सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एव आस्था। किस आत्मा की दृष्टि कितनी सम्यक् बनी है उसके प्रतीक इन पाच लक्षणों से ही वस्तुस्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। लक्षणो की पहिचान उसके अन्दर के भावों से हो सकती है। मनुष्य के भीतर की भावना जिस रूप मे होगी, वैसा ही मुह से उच्चारण बनेगा और जैसा उच्चारण बनेगा, वैसा ही उसका व्यवहार भी दृष्टिगत होगा।

आत्मा की दृष्टि महत्त्वपूर्ण मानी गई है। बाहर की दृष्टि तो आप समझते हैं। यह कहॉ से मिलती है ? बाहर की दृष्टि बाहर के नेत्रो से मिलती है, लेकिन यह दृष्टि भी सबकी एकसी नहीं होती है। इस दृष्टि को स्पष्टता और तेजी मे भी बडा फर्क दिखाई देता है। किसी को बडा तेज दिखाई देता है– साफ दिखाई देता है तो किसी की नजर कमजोर भी होती है। कमजोरी की भी कई श्रेणिया होती है। किसी की बिल्कुल दृष्टि नहीं होती, वह अधा कहलाता है। किसी को पीलिया हो जाता है तो उसको सब कुछ पीला ही पीला दिखाई देता है याने कि किसी की दृष्टि दोषपूर्ण भी बन जाती है। इस दृष्टि का भी इतना महत्त्व है कि आखे नहीं तो जैसे ससार ही नही है। शरीर के सारे अगों में इसीलिये आखें बडी कीमती मानी जाती है। केवल आंखे देखती हैं और उनके भरोसे सारा शरीर गति करता है। आखें जरासी बेपरवाह हो तो ठोकर कौन खाता है ? असावधान तो आखे होती है मगर ठोकर पैर को खानी पडती है। यह दृष्टि जितनी तेज और साफ होती है, उतनी ही उस शरीर की गति निर्द्वन्द और निराबाध होगी। दृष्टि गति को बल देती है तथा उस बल से गति प्रगति बन जाती है।

बाह्य नेत्रों की दृष्टि से भी भीतर की दृष्टि कई गुना अधिक महत्त्वशाली होती है। इसे ही आत्मा की दृष्टि कहते हैं। बाहर की दृष्टि असावधान होती है तो पैर को ठोकर लगती है या शरीर गिर पडता है लेकिन आत्मा की दृष्टि असावधान रहती है तो आत्मस्वरूप पर कर्मो के आवरण चढते जाते हैं तथा आत्म कल्याण कठिनतर बनता जाता है। जब आत्मा की दृष्टि असावधान हो तथा गलत रास्ते पर आत्मा को ले जा रही हो तो उस दृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैसे पीलिया वाले की दृष्टि सब कुछ पीला ही पीला देखती है वैसे

मिथ्यादृष्टि सत्य तत्त्वो को भी मिथ्यारूप में देखती है और उसको मिथ्या तत्त्व सही मालूम होते हैं। दृष्टि विकार का नाम ही मिथ्यादृष्टि होता है।

आत्म दृष्टि का यह मिथ्यात्त्व छूटता है तो उस मे सम्यक्त्व का प्रवेश होता है। सम्यक्त्व सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप में देखता है। यह सत्य दर्शन की भावना जितनी तीव्र और कोमल बनती जाती है उतनी ही सम्यक् दृष्टि सुस्पष्ट बनती जाती है। ये ऊपर जो पाच लक्षण बताये गये हैं, वे एक प्रकार से इस तथ्य के मापक यत्र है कि किस आत्मा की दृष्टि कितने रूप मे सम्यक् बन पाई है तथा उसकी सम्यक्त्व की भावना कितनी प्रगाढ है ? उस आत्मा के विचार, वचन तथा व्यवहार सम्यक्त्व की भावना एव दृष्टि से कितने अशो मे प्रभावित बने हैं— इन पाच लक्षणो की स्थिति से उस प्रभाव की प्रतीति ली जा सकती है।

जो वस्तुत जिस रूप मे है
उसे उसी रूप मे जानना है— सम

सम्यक् दृष्टि आत्मा का पहला लक्षण बताया गया है— सम । सम का अर्थ है कि ससार मे जितने पदार्थ हैं, उन समग्र पदार्थो को उसी-उसी रूप मे जानना है, जिस-जिस रूप मे वस्तुत वे रहे हुए हैं। यह 'सम' विशेषण दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। दृष्टि जब सम देखती है तो सबको एक सा नहीं, बल्कि यथावत् देखती है। दोष पूर्ण दृष्टि को दोषपूर्ण दृश्य दिखाई दे सकता है तो उसमे पदार्थ का यथावत् रूप देखने में भी गडबड होती है। समदृष्टि जिसकी बन जाती है, वह सत्य को देखने लग जाता है।

ऐसी समदृष्टि आत्मा ससार के समस्त पदार्थो की तीन रूप मे छटनी कर लेती है। ये तीन विभाग होते हैं— ज्ञेय, हेय एव उपादेय। ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य होते हैं ससार के समस्त पदार्थ एव समस्त तत्त्व, क्योकि जाने बिना उनका मूल्याकन नही किया जा सकता है और मूल्याकन न कर सके तो किसको छोडना और किसको ग्रहण करना— इसका समुचित निर्णय नहीं लिया जा सकता है। इसलिए दूसरा विभाग रखा है हेय का कि उन समस्त जाने हुए पदार्थो और तत्त्वों में से जो आत्म कल्याण के लिये हितावह नहीं है, उनको छोडने लायक मान लो। हेय का निर्णय कर लेने के बाद तीसरे विभाग में उन्हे सम्मिलित कर लो जिन्हे आत्म कल्याण की हितावहता की दृष्टि से ग्रहण करना है। ये उपादेय, तत्त्व कहलायेगे। समदृष्टि आत्मा ससार के पदार्थों तथा तत्त्वो का इस रूप में विवेचन करती है तथा उनके यथावत् रूप के आधार पर जानने,

छोडने अथवा ग्रहण करने का निर्णय लेती है।

सम्यक्त्व के पहले लक्षण सम का इस रूप मे गहराई से मूल्याकन किया जाना चाहिये। सम का तात्पर्य सब को एक समान समझना नहीं है, बल्कि जो वस्तु स्वरूप जिस रूप में वर्त रहा है, उस वस्तु स्वरूप को उसी रूप में जानना तथा वैसा ही श्रद्धान करना है। निरजन तत्त्व को निरजन रूप मे जानना, आत्मा को आत्मा के रूप मे जानना, जड को जड के रूप में जानना आदि एव उनके इसी रूप पर श्रद्धान रखना– यह सम दृष्टि का लक्षण है।

सम दृष्टि आत्मा अपने क्रमिक विकास को क्रमिक विकास की दृष्टि से ही देखती है तथा सोचती है एव इस जीवन के साथ जीवन विकास के जितने उपादेय और ग्राह्य तत्त्व हैं उनको ग्रहण करने की भावना रखती है एव तदनुसार अपनी श्रद्धा बनाती है। इस प्रकार जो वस्तु जिस रूप मे जिस स्थान पर है, उस को यथारूप यथास्थान देखने की सम दृष्टि से सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है। यथावत् वस्तु स्वरूप को देखने से उस वस्तु के सारे गुणो अथवा अवगुणो को भी देख लेते हैं। गुण को गुण रूप मे तथा अवगुण को अवगुण रूप में देखने से उस वस्तु की उपादेयता पर स्वस्थ निर्णय लिया जा सकता है।

दृष्टि सम हो जाने के बाद सत्य वृत्ति बन जाती है कि पाप को पाप कहे और पुण्य को पुण्य। धर्म को धर्म के रूप में जानें तथा उस पर उस रूप में श्रद्धा का निर्माण करे। इसी प्रकार नव तत्त्वो की वास्तविकता को पहिचाने। आश्रव को आश्रव के रूप में, सवर को सवर के रूप में तथा निर्जरा को निर्जरा के रूप में जाने, कहें और वैसा ही विश्वास बनावें तथा प्रकट करे। मोक्ष प्राप्ति के परिपूर्ण मार्ग को स्मृति पटल पर अकित करले तथा वैसी श्रद्धा रख कर जीवन को उसी रूप में ढालने को विश्वास के साथ जान लेना– यह सम की स्थिति का प्रसग है।

ज्ञान मे समता आ जाय तो सवेग गति को सम बनाता है

सवेग– यह सम्यक् दृष्टि आत्मा का दूसरा लक्षण माना गया है। वेग का अर्थ होता है गति और जब सम दृष्टि के अनुसार गति भी सम बन जाती है तब सवेग का लक्षण प्रकट होता है। गति करना प्रारम होता है उठने से, चलने से और पुरुषार्थ की प्रक्रिया आरम करने से। फिर गति मे वेग चलने वाले की शक्ति के अनुसार होता है। यह शक्ति शरीर की, मन की और आत्मा की होती है। गति का स्वरूप इन शक्तियो के स्वरूप के अनुसार ढलता है। गति बाहर की भी होती

है, लेकिन मुख्य गति वह कहलाती है जिसके अनुसार जीवन विकास के डग भर जाते हैं । सभी प्रकार की गति मे मन का बडा असर पडता है और मन की दशा की विविधता के अनुसार गति का भी विविध वेग बनता रहता है।

गति का वेग सम बने-- इसके लिये मन की अस्थिरता और चचलता पर नियत्रण किया जाना जरूरी होता है। चचल मन की गति बडी विचित्र होती है। मन की गतिविधियाँ भी कई कारणो से बनती, बिगडती और सुधरती रहती है। मन का वेग तीव्र और तीव्रतम भी होता है तो मन्द और मन्दतम भी होता है । मन का वेग शुभ और अशुभ की सभी तार तम्यताओ में होता हुआ अनादिकाल से इस भव प्रवाह मे चल रहा है। मन के उस वेग मे समता समा जाय तो वह सम बन जाता है। दृष्टि सम हो जाने से ज्ञान मे समता आ जाती है तो गति में समता आ जाने पर आचरण पुष्ट बन जाता है। ऐसा होने पर सम्यक्त्व का दूसरा लक्षण सुस्पष्ट हो जाता है।

जब वर्षा वेग के साथ होती है तो नदी नालो के बहाव का वेग भी बढ जाता है। जब तूफान का रूप लेकर घनघोर गर्जना करता हुआ वेग चलता है तो ऐसा वेग धरती पर उथल पुथल मचा देता है। कई तरह के डठल कचरे इस वेग में कहाँ से कहाँ बह जाते हैं और धरती का वह धरातल स्वच्छ हो जाता है। तूफानी गति की वह तीव्रता मिट जाती है तो धरती भी स्वच्छ दिखाई देती है तथा जल की धारा भी स्वच्छ बनकर मथर गति से नदी नालो मे बहने लगती है। ऐसी वेग की तीव्रता भी उपयुक्त अवसरों पर मानव जीवन के लिये शुद्धि की दृष्टि से आवश्यक मानी जाती है। वह तीव्रता स्वच्छता को लाने वाली होती है, अत गति का यह रूप भी यथासमय उपादेय हो सकता है।

जिस आत्मा के मन का वेग विषय कषायो के दलदल मे जब तक भटक रहा होता है तब तक वह वेग अन्य व्यक्तियो के लिये उपादेय नही होता है। लेकिन सत्सग के प्रसग से एव सन्त वचनो के प्रभाव से जब ये विकार हटने लगते हैं और आत्मानुभूति जागृत होती है तो वह मन की वैसी गति पर एकदम रोक लगाती है। चेतना में यह विचार बल पकडता है कि कितने पुण्य सचय के बाद यह दुर्लभ मानव जीवन मिला है तो इसे मन की विषम गतियो मे अब और अधिक विकृत नही बनने देना है, बल्कि सचित विकृति को हटाने की चेष्टा भी शुरू कर देनी चाहिये। इस विचार के बल पकडते ही मन पर नियत्रण कसने की चेष्टा भी बलवती हो जाती है। ऐसे समय में कभी-कभी तूफानी वेग बन जाता है और यदि उस समय आत्मानुशासन मजबूत रहता है तो मानस पटल की स्वच्छता का कार्य सम्पन्न हो जाता है।

ज्ञानीजन कहते हैं– बहु पुज केरा पुण्य थी, शुभ देह मानव नी मली। बूद-बूद करके घडा भरता है, उसी तरह कण-कण पुण्य सचित बन कर उसका पुज बनता है। ऐसे पुण्य पुजो के सुफल रूप जो यह मानव जन्म मिलता है, विकासशील आत्मा उसका पूर्ण सदुपयोग साधने के लिये अपनी दृष्टि को सम बनाती है तो गति को भी सम बना लेती है।

मन की चचलता पर काबू न रहे तो सम बनी गति भी पुन विषम बन सकती है

एक बार गति सम बन जाने के बाद भी मन की गति पर स्वस्थ और सतर्क नियत्रण बना रहना चाहिये। यदि मन की चचलता का उचित नियत्रण न रहे तो सम बनी हुई गति भी पुन विषय बन सकती है। ऐसा चचल मन फिर उच्छृखल हो जाता है।

सचित पुण्य के सुप्रभाव से मानव तन मिला, समझिये कि परिवार का बल मिल जाता है, सम्पत्ति का सयोग मिल जाता है और उस स्थिति में आदमी अपने दिमाग की तरग मे दीवाना बन जाय, अहकार के मद से भर जाय और बेफिक्री बरत कर चले तो वह झौंका कितने दिन तक चलने वाला है ? आज जवानी की अकड से मन उडा-उडा फिरता है लेकिन कल जवानी ढल जायगी तब कौन पूछेगा ? पुण्यवानी से जो सयोग मिले हैं, उनकी सहायता से यदि और पुण्य कमालो तो, जीवन विकास के अवसर और अधिक सुलभ हो सकेगे। पुण्य के फल में पाप कमाया तो यह जीवन भी डूबेगा और आने वाले जीवन भी डूबेगे। इसलिये गति पर सबसे ज्यादा ध्यान देना सीखिये। गति की विषमताओ को दूर करके चले तो समता से जीवन व्यवस्थित एव विकसित होता हुआ अग्रसर बन जायगा। ससार की नश्वरता को हृदय में रखकर विकास की गति के वेग को सम बनाने की नितान्त आवश्यकता है। विषमता के जितने विकारपूर्ण चिन्ह हैं, उन्हें दूर करते हुए सवेग के लक्षण को प्रकाशित बनाना चाहिये।

निर्वेग है मन के वेग को विकारो की तरफ से मोडना

कभी-कभी लोग कहते हैं कि मन को रोकने का उपाय बता दीजिये। मैं कहता हूँ, मन को रोक कर क्या करेगे ? इसको रोकना नहीं है। मन तो गति करेगा और उसको गतिशील ही बनाये रखना है, क्योंकि उसकी गतिशीलता मे

समस्त जीवन की गतिशीलता बनी रहती है।

मन इस समय गति कर रहा है ससार के अनेकानेक विकारो की तरफ। विषय भोग मे उसकी लालसा है तो धन या पद पाने का ममत्व है। इस प्रकार वासनाओ की दिशा मे यह मन भाग दौड कर रहा है और अपने को विद्रूप बना रहा है। इसलिये मन की गति को मोडने का सवाल है, रोकने का नहीं। गति रोक देगे तो क्या मन की अकर्मण्यता नहीं बन जायगी ? सवाल है कि गति तो वह करे, लेकिन सही दिशा मे करे। इसलिये समस्या है मन की गति की दिशा बदलने की। अभी वह जो वेग से विकारों की तरफ भाग रहा है, उसे वहाँ से मोड कर समता की दिशा मे ले जाना है। विपरीत मार्ग पर जा रहा है, उसको सत्पथ पर लाना है। मन की गति की दिशा बदलनी है। न तो उसकी गति रोकनी है, न वेग को बन्द करना है। बने वहाँ तक सत्पथ पर मन की गति के वेग को तीव्र ही बनाना है।

ससार के मार्ग की ओर बढ रहे मन को मोक्ष के मार्ग की ओर मोडना है। इसी मोड को निर्वेग कहा गया है। दृष्टि और गति के सम बन जाने पर विषम तत्त्वो की ओर बढते हुए मन को उधर से मोडना अधिक कठिन नहीं रहता है।

सम्यक्त्व के मैं जो लक्षण आपको बता रहा हूँ, आप सुन तो रहे हैं न ? कहीं-कही मन की चचलता दीख रही है। आप क्या करें– मन की गति ही ऐसी होती है। जब तक दृष्टि और गति मे समता नहीं आवे तब तक मन की गति पर समुचित नियत्रण रखना तथा उस के वेग को विकारों की तरफ से मोडना आसान नहीं होता है। समता के विस्तार के साथ ही सम्यक्त्व परिपुष्ट बनता है तथा जीवन शुद्ध बनता है। ससार की विषय कषायो की गुलामी को छोडना तथा मन की गति के वेग को त्याग और समता की तरफ मोडना यही निर्वेग है।

आत्मीय सम्भाव के साथ दु खी के प्रति करुणा का नाम अनुकम्पा

सम्यक्त्व का चौथा लक्षण कहा गया है– अनुकम्पा दु खी व्यक्ति को देखकर दिल में करुणा, का भाव उमड आवे– अनुकम्पा से आप अभिभूत हो जाये– यह आत्मीय समभाव का लक्षण है। इस आत्मीय समभाव के प्रकटीकरण की स्थिति से यह ज्ञात किया जा सकता है कि वह व्यक्ति सम्यक्दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि है ? दु खी व्यक्ति को देखकर जब सही रूप में दिल कापता है और यह विचार उठता है कि यह दु ख उसका है सो मेरा है तो मानिये कि वहाँ सच्ची अनुकम्पा है।

अनुकम्पा तमी सहज बनती है, जब सभी आत्माओ के साथ समतामयी मावना का विकास हो चुका हो। आत्मीय समता के दृष्टिकोण से ही करुणा और अनुकम्पा जागती है तथा सहयोग का हाथ आगे बढता है। द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण की अनुकम्पा के बारे मे आपने सुना है। जब वे अपनी चतुरगिणी सेना सजाकर हजारों व्यक्तियों से बिरुदावली सुनते हुए हाथी के हौदे पर बैठे नगर पथ पर जा रहे थे तो उन्होंने क्या देखा ? एक अत्यन्त अशक्त वृद्ध इटों के एक बडे ढेर से बडी कठिनाई के साथ एक ईंट उठाता है और हाफता-हाफता उसे घर के भीतर एक ओर जमा रहा है। श्रीकृष्ण के हृदय में एक तीव्र कम्पन्न हुआ और वे अनुकम्पा से द्रवित हो उठे। क्या किया उन्होने ? उन्होंने अपने महावत को कहा– हाथी को उस इटो के ढेर के पास ले चलो। श्री कृष्ण स्वय ने ढेर पर से एक इट उठाई और उसे घर में पहुँचा दी। श्री कृष्ण को ऐसा करते हुए देख भला कौन निष्क्रिय रह सकता था ? एक ही बार मे सारी ईंटें उस वृद्ध पुरुष के घर मे पहुँच गई। यह है अनुकम्पा का एक सहृदय उदाहरण, जिससे प्रेरणा ली जानी चाहिये।

स्व आचार्य श्री फरमाया करते थे– दयाधर्म पावे तो कोई पुण्यवता पावे। वास्तव मे हृदय मे करुणा का आवेग पुण्य के फलस्वरूप ही आता है। पापी हृदय मे कहॉ अनुकम्पा होती है ? एक अधा पुरुष सडक पर जा रहा है– किनारे चलते-चलते वह एक गड्ढे की कगार तक पहुँच गया और एक क्षण विलम्ब होता है तो उसके गड्ढे मे गिर जाने की आशका है, उस समय पापात्मा उसे देखता होगा तो क्या करेगा ? वह देखेगा कि अधा गड्ढे में गिर जावे तो मजा देखे कि कैसे चिल्लाता है ? और एक पुण्यात्मा देख रहा होगा तो आवश्यक से आवश्यक काम को छोडकर अधे को गिरने से बचा लेगा, क्योकि पुण्यात्मा का हृदय दु खी को देखते ही दया से द्रवीभूत हो जाता है। कुछ ऐसे भी भ्रान्त मान्यता वाले लोग हैं जो सोचते हैं कि गिरते हुए अधे को बचा लिया और वह जब तक जीवित रहेगा– खाएगा, पिएगा और जो भी काम करेगा उसका पाप बचाने वाले को लगेगा। यह दिमाग का दिवालियापन है या दानवी वृत्ति कि कोई दया, करुणा, अनुकम्पा तथा रक्षा के कार्यो को पाप कार्य कहे। अनुकम्पा करने वाला सत्कार्य करता है, उसका पुण्य उसको मिलेगा। बच जाने वाला बाद मे अपने जीवन मे जैसा शुभाशुभ करेगा, उसका फल उसको मिलेगा। न तो बचाने वाले के शुभ काम का फल बचने वाले को मिलेगा और न ही बचने वाले के कार्यो का फल बचाने वाले को मिलेगा। ऐसी मान्यताओं से दृष्टि विषम बनती हे तथा सम्यक्त्व को आच आती है।

आपको सभी देशो के इतिहास में महापुरुषों की करुणा भावना के बारे मे कई घटनाएँ जानने को मिल सकती है। ऊँचे पद पर रहते हुए बडे-बडे आदमियो ने दया से द्रवित होकर छोटे से छोटे व्यक्ति को– यहाँ तक कि पशु की रक्षा की है और उसको सहायता पहुँचाई है। अनुकम्पा जब उमडती है तो एक सहृदय निष्क्रिय नही रह सकता है। सहायता और सहयोग का काम वह स्वय जल्दी से जल्दी करना चाहता है और जब शुभ काम उसके हाथ से सम्पन्न हो जाता है तो उस समय उसके हृदय को जिस प्रकार के आन्तरिक आनन्द का अनुभव होता है, वह अनुपम होता है। अनुकम्पा का वास्तविक रूप वहीं प्रकट होता है जहाँ अनुकम्पा करने वाले का न तो राग हो और न स्वार्थ। दु ख है, वहाँ अनुकम्पा है। अनुकम्पा यह नहीं देखती कि दु खी कौन है ? ऐसी ही अनुकम्पा समतामयी होती है।

जीवन के सभी क्षेत्रो मे समता की पुष्टता का नाम है आस्था

सम्यक्‌दृष्टि आत्मा का पाचवा लक्षण बताया गया है आस्था। आस्था का अर्थ होता है निष्ठा और श्रद्धा। पाचो लक्षणो मे आस्था को अन्तिम क्रम पर क्यों रखा गया है ? दृष्टि सम हो, गति सम हो, वेग सम हो तथा आत्मीय समानता का भाव उभरकर प्रमुख बन गया हो तभी एक आदर्श जीवन का चित्र उपस्थित होता है। किसी भी आदर्श को व्यवहार मे उतार लेने तथा उसके खरेपन के प्रति पूर्ण आश्वस्त हो जाने के बाद ही सच्ची आस्था का जन्म होता है। वह आस्था अमिट होती है और इतनी सुदृढ कि फिर उस जीवन मे आस्था सबसे अधिक प्रमुख बन जाती है।

किसी गुण या गुणी के सम्पर्क में आकर तथा उसके प्रभाव को परख कर उसके प्रति जो सम्मानपूर्ण भाव जागता है, वही आस्था कही जाती है। वास्तव मे आस्था पैदा नही की जाती है– सुयोग्य पात्र के प्रति स्वयमेव पैदा हो जाती है और ऐसी आस्था ही सच्ची तथा दीर्घजीवी बनती है।

आस्था का जीवन मे बहुत बडा महत्त्व होता है। आस्था से मन समर्पित हो जाता है और इस कारण आश्वस्त होकर अत्यन्त निर्भय तथा साहसी भी बन जाता है। गभीर सकट के समय भी आस्थावान स्थिर बुद्धि से कार्य करता है और डोलायमान नहीं होता है। आस्था का अपना एक विचित्र प्रकार का बल होता है जो शायद अन्य प्रकार के बल से अधिक उत्कृष्ट होता है।

सच पूछे तो जीवन के सभी क्षेत्रो में जब समता पुष्ट बन जाती है तो आस्था परिपक्व हो जाती है। यह भी कह सकते हैं कि आस्था की परिपक्वता मे समता की पुष्टता परिपूर्ण बन जाती है। आस्था जिस की सम, सम्यक् और सुदृढ बन गई, समझिये कि उसका सम्यक्त्व पाचों लक्षणो से युक्त बन गया है तथा उस सम्यक् दृष्टि आत्मा ने जीवन के समुन्नत विकास का स्वस्थ धरातल तैयार कर लिया है। सम्यक्त्व की पूर्णता जीवन मे समता की पुष्टता के रूप मे अभिव्यक्त होती है।

त्याग-तप की आग मे आत्म शुद्धि को निखार ले।

आत्मा के सम्यक् दृष्टि बन जाने के बाद शुभ भावना का पुट मजबूत बना रहे तो आत्मा मे तपत्याग की अभिरुचि बढती चली जाती है। जैसे सोने को आग मे डाले तो उसका मैल जल जाता है तथा रग निखर उठता है। उसी प्रकार एक सम्यक्त्वी आत्मा अगर तप और त्याग की आग में अपने को झौंक दे तो उसके स्वरूप के साथ जितना विकार लगा हुआ हो वह सब जलकर भस्म हो जाता है और उसके बाद आत्मा का निज स्वरूप शुद्ध बन कर प्रकाशमान हो उठता है।

पर्यूषण पर्व मे त्याग तप का क्रम तेजी से चल रहा है। त्याग और तप जो करना है, वह अपनी आत्म शुद्धि के लिये करना है, उसमे यश प्राप्ति या प्रचार की लालसा नही होनी चाहिये। समता का दृष्टिकोण सर्वोपरि बना हुआ रहना चाहिये। कई मुनियो के, फक्कड बाबा के और आप भाई बहिनों के बडी-बडी तपस्याऍ चल रही है लेकिन तपस्या के साथ सम्यक्‌दृष्टि को भी जागृत रखे ताकि इस त्याग तप की आग मे विकारो मैल जले और आत्म स्वरूप अधिक उज्ज्वल बनकर निखर उठे।

यह अनुभूत सत्य है कि अन्त करण के समदर्शी भाव से जो व्यक्ति कर्त्तव्यपरायण होकर अग्रसर बनता है तो वह अपने लक्ष्य में भी सफल होता है तथा स्वत ही समाज या राष्ट्र मे उसको यथोचित सत्कार भी मिलता है, लेकिन समदर्शी के मन मे सत्कार या यश की लालसा कतई नही होती है। श्री कृष्ण का गुणानुवाद आज क्यो किया जा रहा है ? क्योंकि वे सम्यक् दृष्टि थे। जो सम्यक्‌दृष्टि बनेगा, वह समदर्शी होगा और सिद्ध पद तक पहुँचेगा।

□□□

9

सीमित घेरों से विराट् स्वरूप की ओर

अनन्त जिनेश्वर नित नमू,
अद्भुत ज्योति अलेख।
ना कहिये ना देखिये,
जाके रूप न रेख।।

अनन्त नाथ परमात्मा को आत्मा के समक्ष स्मृति के धरातल पर समता के साथ उपस्थित करने का प्रसग आ गया है। प्रभु की महानता, परमात्मा की विराटता इस आत्मा को स्वाभाविक तौर से प्राप्त है, लेकिन यह आत्मा इस विराटता को न समझ कर सीमित घेरो के अन्दर इस शरीर पिड एव जड जन्म वासनाओ में बन्द है। इन सीमित घेरों को छोडकर यह आत्मा विराट् स्वरूप का वरण करने की ओर अग्रसर हो– यह लक्ष्य आज सक्रिय बन जाना चाहिये।

परमात्मा के विराट् स्वरूप की तुलना में इस आत्मा के वर्तमान स्वरूप का मूल्याकन किया जाना चाहिये। यह मूल्याकन यदि निष्ठापूर्वक किया जाय तो विदित होगा कि कहॉ सम्पूर्ण पृथ्वी को आलोकित करने वाले सूर्य का तेजस्वी प्रकाश और कहॉ जुगनू सा धुधला सा चमकता बुझता प्रकाश बिन्दु ? खेद का विषय तो यह है कि सूर्य की मूल शक्ति रखने वाली आत्मा जुगनू की सी चमक मे ही आत्म विस्मृत हो रही है।

आज सवत्सरी महापर्व की आराधना के प्रसग से यह दृढ सकल्प बनना चाहिये कि आत्मा की ऐसी अधकारपूर्ण दशा समाप्त हो तथा यह अपने स्वरूप को विराटता की ओर ले जाती हुई विशाल आकाश के समान सहनशील और क्षमाशील बने। आज के इस महापर्व का यही पवित्र सन्देश है जो जीवन में उतरना चाहिये।

मै अपनी शक्ति को पहिचानू, अपने जीवन को विराट् रूप मे परिणित करू

यह लक्ष्य हृदय मे गुजायमान बनना चाहिये कि मैं अपनी मूल शक्ति को पहिचानू तथा अपने वर्तमान सीमित जीवन को विराट् रूप मे परिणित करू। मेरी यह मूल शक्ति आठो कर्मो के भार के नीचे दबी हुई है तथा ज्ञान का आलोक वासनाओ एव विकारों के काले बादलो के पीछे छिप गया है अत मैं इन आवरणों को अपने आचरण बल से हटा दू– ऐसी तत्परता आज से प्रारम्भ हो जानी चाहिये। प्रभु से प्रार्थना करते हुए एक भक्त कितनी भावुकता से अभिलाषा करता है–

प्रभु मेरा हृदय गुण सिन्धु, अपरपार हो जावे।
सफल सब ओर से पावन, मनुष्य अवतार हो जावे।
खुशी हो रज हो कुछ हो, रहू मै एक सा हरदम।
हृदय के मत्र पर मेरा, अटल अधिकार हो जावे।
जरा सा भी मिले मुझ मे, न दूढा चिन्ह ईर्ष्या का।
पदोन्नति देखकर दिल मे, हर्षोल्लास हो जाये।
प्रभु मेरा हृदय गुण सिन्धु

कितनी साम्य और सौम्य भावना प्रकट की गई है कि मेरा हृदय अपार गुणों से भर जाय तथा मेरा मनुष्य जीवन पवित्र बनकर सार्थक हो जाय। न तो मैं सुख मिल जाने पर हर्ष विमोर हो जाऊ और न दुख आ जाने से विक्षुब्ध– मेरी सम अनुभूति बनी रहे। मेरा हृदय पूर्णतया आत्मानुशासन में चले एव ईर्ष्या सम्पूर्णतया समाप्त होकर दूसरो की उन्नति पर हर्षित होने का मेरा स्वभाव बन जावे।

प्रभु के चरणो मे पर्यूषण पर्व की गभीर आराधना से विनयावनत होकर एक भक्त मार्मिक निवेदन करे तो क्या उसका चैतन्य जागृत नही बनेगा ? याद रखिये कि अनन्त सूर्यो की प्रभा से भी अधिक प्रभावान होता है इस आत्मा के ज्ञान लोक का अनन्त प्रकाश। उस देदीप्यमान शक्ति को यह आत्मा पहिचान ले तो बहुत बडी बात हो जायगी क्योकि कोई अपनी शक्ति को पहिचान कर उसको प्रकट करने के लिये अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ एव पराक्रम न लगादे– ऐसा नहीं होता है। यह पुरुषार्थ और पराक्रम जितना अथक होगा, उतना ही वह सफल भी होगा। आत्म-पराक्रम की सफलता का यह निश्चित सु-परिणाम प्रकट होगा

कि यह जीवन सीमित तथा सकुचित घेरो से बाहर निकल कर अपनी आत्मा के मूल स्वरूप के अनुकूल विराटता की ओर प्रयाण कर देगा। यह लघु जीवन शुभ पराक्रम के परिणाम स्वरूप विराट् रूप मे परिणित हो जायगा। इससे यह दुर्लभ मानव जीवन भी सार्थक होकर धन्य बन जायगा।

पर्यूषण पर्व वर्ष मे एक बार आता है तथा उसका भी आठवा दिन आज सवत्सरी का महापर्व है। आज के दिन आत्मा के विराट् स्वरूप की उपासना इस प्रकार की जानी चाहिये कि ज्ञान और क्रिया की सत्यनिष्ठा एक साथ सुदृढ बनकर क्रियाशील हो जाय।

महाजन जिस पर होकर गये, वही पथ हमारा है।

महाजनो येन गता स पथ– अर्थात् जिस मार्ग पर होकर महाजन अर्थात् विशिष्ट पुरुष गये हैं, वही मार्ग सामान्यजन के लिये निर्बाध माना गया है। महान् विराट् आत्माओ ने – तीर्थकरों ने अपने त्रिकाल अबाधित कैवल्य ज्ञान के भव्य रूप में जिस आत्म कल्याण के मार्ग का अवलोकन किया उसी का उन्होने भव्यजनो के लिये निर्देश दिया है। वे स्वय उस पर चले और उस अनुभव के साथ ही उन्होने निर्देश दिया, अत उनकी आज्ञाओ को जो नि शक रूप से पालन करता हुआ चलता है, उसका कल्याण अवश्यमावी है।

इन्ही तीर्थकर देवो तथा महापुरुषो ने स्वय आज के दिन सवत्सरी महापर्व की आराधना की तथा अन्य सबसे भी इस दिन का निर्धारित निर्देश दिया। समवायाग सूत्र मे सवत्सरी के सम्बन्ध मे स्पष्ट सकेत आया है समणे भगवा महावीर । अर्थात् इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थकर महावीर भगवान् ने चातुर्मास प्रारम होने के दिन से लेकर अर्थात् आषाढ सुदी पक्खी दिवस से प्रारम्भ करके एक माह और बीस रात्रि के व्यतीत होने पर तथा चातुर्मास के सितर दिन अवशेष रहने पर वर्षावास मे सवत्सरी का आराधन किया।

आप गभीरता से चिन्तन करे कि जहाँ समग्र विश्व को हथेली की रेखा से भी अधिक स्पष्ट समझने वाले परम तीर्थकर देव जिस दिन का स्पष्ट निर्धारण करके उस दिन आराधना करे, उस सवत्सरी महापर्व का कितना विशिष्ट एव व्यापक महत्त्व मानना चाहिये। ज्योतिष शास्त्र का एक विद्वान् भी कोई मुहूर्त बता देता है तो आप उसका पालन करते हैं और उस कथित मुहूर्त मे ही उस काम को करना चाहते हैं तो यह मुहूर्त तो स्वय भगवान् महावीर का

बताया हुआ है जो कि समग्र ज्ञान के ज्ञाता, विश्वास के सिंधु तथा निर्विकारी थे, उनके कथन को तो आज्ञा मानकर चलना ही चाहिये। उन्हीं के तप तेज से आज लगभग 2500 वर्ष प्रभु के निर्वाण को व्यतीत हो रहे हैं। इतना लम्बा समय बीत जाने पर भी वीर प्रभु का परम्परागत यह पर्वाराधना का प्रसंग समुज्ज्वल धारा के साथ जन-जन के मन को आल्हादित एव प्रमुदित बना रहा है।

महाजन जिस मार्ग पर चले या कि जो मार्ग उन्होंने बनाया, सामान्यजन के लिये वही मार्ग मार्ग कहलाता है। सवत्सरी का मार्ग प्रभु महावीर ने बनाया और बताया है।

त्याग की आकांक्षा को जागृत बनाने वाला महापर्व सवत्सरी

आपके लौकिक पर्वो की तुलना में यह सवत्सरी का महापर्व निराला है, क्योंकि यह त्याग की आकाक्षा को जागृत बनाने वाला है। आज सभी सुन्दर वेशभूषा, श्रृगार, मिष्ठान या अन्य प्रकार के भोगों का परित्याग करके सजल या निर्जल उपवास अथवा पौषध आदि तप करने को तत्पर हो रहे हैं। छोटे-छोटे बालक भी उपवास करने का हठ कर रहे हैं। इस प्रकार सभी छोटे बडे यथा शक्ति संवत्सरी की उपासना करने को उत्सुक हैं। ऐसा किसका प्रभाव है ? यह वीतराग वाणी का अमिट प्रभाव है जो चिरकाल से भव्यजनों के हृदयों मे अति कोमलता का सचार करती हुई चली आ रही है।

यह महिमामय वीतराग वाणी सबको त्याग की ओर प्रभावित कर रही है तो ऐसा महापर्व कितना गौरवशाली है तथा आत्म कल्याण की कितनी प्रभावपूर्ण प्रेरणा देने वाला है– इसका हृदय से आकलन करना चाहिये। इस पर्वराज की आराधना किस विधि से की जाय– इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वय चिन्तन भी करना चाहिये। कहा है–

पर्वराज ही है पर्वो मे श्रेयकार।
पर्वराज जब यह आता, दुनिया मे आनन्द छाता।
शत्रु भी मित्र बन जाता, करता जय जयकार।
पर्वराज को जो अपनाता, आनन्द मगल सब वह पाता।
प्रेम पाठ सब ही को पढाता, करता शान्ति प्रसार।
पर्वो मे श्रेयकार।

पूरे वर्ष भर में जितने भी अन्यान्य पर्व आते हैं, उन सबमे सर्वश्रेष्ठ यही

पर्व है और इसीलिये इसको पर्वराज कहा गया है। अन्य पर्वो में जहॉ आप भोगों के पीछे भागते हैं, विकारों को बढाते हैं तथा हृदय को अधिक मलिन बनाते हैं, वहॉ यह महापर्व हृदय की मलिनता, रागद्वेष की परिणति तथा मोह माया के विस्तार को मिटाने वाला एव क्षमा के नूतन आल्हादकारी सस्कार को प्रदान करने वाला है। इस महापर्व की सच्ची आराधन करने से विकारों की आधी का शमन होता है तो भीतरी नेत्र खुलते हैं। भीतरी नेत्रो के यत्किचित भी खुलने से अन्दर में आत्मालोचना का भाव प्रबल बनता है, जिसके माध्यम से पापों से पीछे हटने एव धर्म कार्यो मे प्रवृत्त होने की वृत्ति का विकास होता है। इन आठ दिनों मे जिन महापुरुषो का चरित्र वर्णन आपने सुना है, उस अन्तगड सूत्र का हृदय पटल पर अकन करे और उन-उन महापुरुषों के आदर्शो को अपने जीवन में आज से ही उतारने का प्रयास प्रारभ कर दें। उन आदर्शों के अनुसार यदि अपनी-अपनी आत्माओं के कर्म मैल को धो डालने की गहरी लगन लग जाय तो त्याग की आकाक्षा जागृत बनाने वाला इस महापर्व की आराधना के प्रसग से मोक्ष मार्ग पर गतिशीलता अवश्य ही तीव्र बन जायगी। यही मार्ग आत्मा को विराट् स्वरूप प्रदान करता है।

समुचित समय पर बोये गये दानो से मोती निपजते है

इस महापर्व का मगल प्रभात वह समुचित समय है जिसमे बोये गये सदाचरण के दाने पुण्य के मोती बनकर निपर्जेगे। जहॉ शत्रु को भी मित्र बनाने का सुअवसर है, दुर्जुन भी अपना सद्व्यवहार बना कर सज्जन बन सकता है तथा कोई भी द्वेष की कालिमा को धोकर टूटे हुए दिलों को जोड सकता है तो क्या ये सब कार्य मोती निपजाने से भी अधिक मूल्यवान नहीं हैं ? जीवन में आध्यात्मिक आचरण की गगा बहे और सर्वत्र प्रेम की मधुरता सबके लिये फूटे तो वह मोतियों की खेती से भी बढ कर है। इतनी जिन्दगी बीती, वर्षों पर वर्ष बीते, दिनो पर दिन गये, घडियो पर घडियॉ गई और पलों पर पल जा रहे हैं, फिर भी आखें नींद से क्यों भरी हुई हैं ? जागिये, अपनी भीतर की आखे भी खोलिये तथा इस सुन्दरतम अवसर का अपनी जीवन शुद्धि के लिये पूर्ण सदुपयोग कीजिये।

'पल के बाये मोती निपजे'– इस कहावत के प्रसग से एक रूपक कहा जाता है। यह रूपक स्व आचार्य देव फरमाया करते थे। ज्योतिषशास्त्र के एक विद्वान् पडित ने एक श्रेष्ठ मुहूर्त निकाला और अपनी पत्नि को कहा कि इस

मुहूर्त पर जवारी के दानों के मोती हो सकते हैं। गरीबी के कारण घर में जवारी भी नहीं थी तो पत्नि पडोसिन के यहाँ से बीस सेर जवारी उधार ले आई। उसने सोचा कि इतने मोतियों से तो घर सम्पन्न बन जायगा। उसने पडोसिन को भी बता दिया था कि वह जवारी किस अभिप्राय से ले जा रही है। पडोसिन ने विचार किया कि मुहूर्त तो आकाशगामी नक्षत्रो के अनुसार होता है, अत सबके लिये है तो उसने भी मोती बनाने की तैयारी कर ली। चूल्हों पर बडे-बडे बर्तन पानी से भर कर रख दिये और दीवाल के पास कान लगाकर बैठ गई कि ज्यों ही उधर से पडित जी की 'हू' सुनाई दे तो वह भी पास रखी जवारी दनादन बर्तनो मे उडेल देगी। दोनो महिलाओ की लेकिन मन की दशा भिन्न-भिन्न है। पडित जी की पत्नि तो शकाशील है कि जवारी के क्या मोती बनेगे ? और पडोसिन पूर्णतया आश्वस्त है कि पडितजी ने मुहूर्त खोजा है तो जरूर जवारी के मोती बनेगे।

उधर पडित जी बारीक गणना कर रहे थे सो ज्यो ही मुहूर्त का क्षण आया, उन्होंने 'हू' किया। पडोसिन ने 'हू' सुनते ही दनादन जवारी बर्तनो में डाल दी, लेकिन पडिताईन सोचती ही रही कि पडित जी 'हू' कहने के बाद पानी में जवारी डालने को कहेगे तब डालूगी। और इस शकाशीलता में वह दुर्लभ मुहूर्त निकल गया। पडोसिन के बर्तन मोतियो से भर गये और पडिताईन के बर्तन मे जवारी की गूगरी बन गई। पडोसिन आभार स्वरूप मुठ्ठी भर मोती पडितजी को भेंट करने आई तब पडिताईन की आखें खुली, लेकिन समय बीत चुका था।

सोचिये कि क्या आपका दुर्लभ मानव जीवन भी व्यर्थ तो नही निकल रहा है ? पडितजी की बारीक गणना की तरह भगवान् महावीर ने आत्म कल्याण के सूक्ष्म सिद्धान्त बताये हैं– अहिसा, अपरिग्रह, स्याद्वाद आदि के सिद्धान्त, जिनमें कहीं भी सशय उत्पन्न होने का सवाल ही नही उठता। अब आप ही भीतर चिन्तन करके अवलोकन करे कि आपकी मनोदशा पडिताईन के समान है या पडोसिन के समान ? एक की गूगरी ही रह गई और दूसरी की जवारी के मोती बन गये। ध्यान रखिये, यह सवत्सरी का महापर्व वह पल है जिसमे बोये मोती ही निपजेगे। इस पल को अगर आप चूक जायेगे या शकाशील बने रहेगे तो पडिताईन की तरह पछाताना पडेगा, अत अभी से सच्ची आराधना का क्रम आरम्भ कर दीजिये।

सुमति को सन्नद्ध बनाइये तो विराट् स्वरूप अवश्य दिखाई देगा

उस पडोसिन की तरह अपनी सुमति को सन्नद्ध बनालें तो एक दिन अपनी आत्मा का विराट् स्वरूप अवश्य ही दिखाई देगा और दिखाई क्या देगा– यह आत्मा सदा काल के लिये विराट् स्वरूपी बन कर सिद्ध पद को प्राप्त कर लेगी।

आज आप भी शारीरिक भूख को भूल कर आत्मिक भूख को मिटाने के लिये तत्पर दिखाई देते हैं। किन्तु यह तत्परता किस रूप मे है ? मन मे यदि दूसरी तरह के सकल्प विकल्प रहे, बारहों मास जो राग द्वेष का व्यापार चलता रहा कि मेरे भाई ने ऐसा किया, मेरे पडोसी ने वैसा किया तो मैं उसको कैसे भूल जाऊ और वही व्यापार अब भी भीतर मे चले एव वृत्तियॉ कलुष में रगती जावे तो क्या यह ऊपरी तत्परता सार्थक बन सकेगी ? हृदय में मृदुता, कोमलता एव क्षमाशीलता का सचार न हो और आप सच्चे मन से सम्बन्धित लोगो के साथ क्षमायाचना न कर सके तो क्या सवत्सरी महापर्व की आराधना सफल कहला सकेगी ? आपकी आत्मिक भूख तभी मिट सकेगी जब आप सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक याने कि आत्माभिमुख बनेगे।

आत्माभिमुख बनने का अर्थ है आत्मा के मूल स्वरूप को समझना तथा उसके अनुकूल जीवन की समस्त वृत्तियो एव प्रवृत्तियों पर आत्मा के कठोर अनुशासन को स्थापित करना। इसके लिये सावत्सरिक प्रतिक्रमण द्वारा वर्ष भर के पाप कार्यो पर प्रायश्चित होना तथा आगे से उन पाप कार्यो से बचने का सकल्प लेना आवश्यक है। जो वैर अब तक जिनके साथ रहा है, उस वैर को सामने वाला चाहे छोडे या नहीं, अपने को वह वैर हृदय से निकाल फैंकना है और क्षमाभावना से अभिभूत हो जाना है– यह आज के दिन का प्रधान करणीय कर्त्तव्य मानकर चले।

शास्त्रकारो ने स्पष्ट कहा है कि आज के दिन बाहर से नजर समेट कर भीतर में देखो और अपनी आत्मा के वर्तमान स्वरूप तथा स्वरूप विकास पर गभीर चिन्तन करो। वर्ष भर मे मैने कितनी भूले की, कितने गहरे राग द्वेष से आत्म स्वरूप को कलकित बनाया और कितने प्राणियों को कष्टित किया– यह आज के चिन्तन मे स्पष्ट दिखाई देना चाहिये और उसे देखकर पश्चात्ताप के साथ क्षमायाचना की मधुर लहर से हृदय विनम्र बन जाना चाहिये। मन का मैल मिटाने तथा मन के सुन्दर रूप को सवारने का यह स्वर्णावसर आया है। इसे

चूकिये मत, इस मानव जीवन को सार्थक बना लीजिये। जाने वाला अवसर फिर लौट कर आयगा या नहीं– इसका कभी भरोसा नहीं होता।

सुमति उसी बुद्धि का नाम है जो आये हुए अवसर को हाथ मे से जाने नहीं देती है। सुमति की इस सन्नद्धता को क्रियाशील बना लेने से आत्म स्वरूप की विराटता के दर्शन भी सुलभ हो जायेगे।

जब आत्म स्वरूप की विराटता अपने चरण बढाती है

जब भव्य आत्म स्वरूप की विराटता अपने चरण आगे बढाती है तो कैसा दिव्य दृश्य उपस्थित हो जाता है ?

प्रभु महावीर के आध्यात्मिक मुहूर्त की आराधना गौतम स्वामी गणधर ने की तो आनन्दजी श्रावक ने भी की। गौतम स्वामी महावीर के पट्टधर शिष्य और मुनि थे तो आनन्द श्रावक गृहस्थाश्रम से निवृत्ति लेकर साधना मे लगे। वे श्रावक वृत्ति की साधना करते हुए अन्तिम समय मे सथारा करके सोये हुए थे। जब गौतम स्वामी का पदार्पण उनके घर पर हुआ तो आनन्द श्रावक ने अशक्ति के कारण चरण अपने निकट लाने का अनुरोध किया ताकि वे उनका सहज स्पर्श करके धन्य हो सकें। उस महापुरुष ने श्रावक की विनति पर चरण आगे बढाए। आनन्दजी ने चरण स्पर्श करके अपने को कृतार्थ समझा और अपने हृदय की विशालता का परिचय देते हुए उन्होने बताया कि उन्हे अवधि ज्ञान प्राप्त हुआ है। उन्होने कहा– मैं नहीं जानता कि यह ज्ञान कितने अशो मे मुझे प्राप्त हुआ है, लेकिन मैं सोया सोया तीन दिशाओं मे पाच सौ योजन का लवण समुद्र देख रहा हू और चौथी दिशा मे चूल हेमन्त पर्वत की चोटी, तथा अधोलोक में लोलुच्च्य नामक नरकवासा भी देख रहा हू। गौतम स्वामी को शका हुई कि क्या श्रावक को इतना अवधिज्ञान हो सकता है ? अत उन्होने कहा– श्रावक जी, आपको सथारा है, ऐसी बात करने से दोष लगा है– आप इसका प्रायश्चित करिये। श्रावक जी फिर भी शुद्ध भावना से कहने लगे– भगवान् महावीर के शासन मे प्रायश्चित दोषी व्यक्ति करता है, निर्दोष नही। प्रायश्चित का निर्णय आप कैवल्य ज्ञान के धारक प्रभु महावीर से ही कराइये।

गौतम गणधर यद्यपि विशिष्ट ज्ञानी थे, पर उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त नहीं था। कैवल्य ज्ञान के बिना अवधिज्ञान को उसी रूप मे देखा नहीं जाता और केवल ज्ञान के बिना सम्पूर्ण लोक के स्वरूप को नहीं देख सकते हैं। आनन्द श्रावक जिस अवधिज्ञान के माध्यम से जिस लोक स्वरूप को देख रहे थे, केवल–

ज्ञान के अभाव मे उसको गौतम स्वामी नहीं देख पा रहे थे क्योकि अवधिज्ञान स्वय अरूपी है तथा अरूपी स्वरूप मात्र कैवल्य ज्ञानी ही देख सकते हैं। इसलिये ऐसा प्रसग उपस्थित हुआ यह सापेक्ष दृष्टि से है। गौतम स्वामी महावीर प्रभु के चरणो मे पहुँचे तथा उन्होने सारा वृत्तान्त निवेदित किया। प्रभु महावीर तो कैवल्य ज्ञानी थे, उन्होने कहा– गौतम, इसमे श्रावक का कथन सत्य है।

देखिये, भगवान महावीर को बडा क्यो माना गया ? क्या इसलिये कि वे राजपुत्र थे और विख्यात थे ? नही, ऐसा नहीं था। वे महान् इसलिये माने गये कि उन्होने अपने अन्त करण को राग द्वेष से मुक्त बना कर पावन बना लिया। जो स्वार्थ से ऊपर उठकर स्वस्थ हो जाते हैं, उनको दुनिया हृदय से चाहती है। गौतम गणधर महावीर के एकदम निकट थे और कैवल्य ज्ञान के अभाव में वे एक छोटी सी बात कह गये, लेकिन श्रावक की तुलना में उन्होने गौतम गणधर को भी क्षमा नहीं किया। इसे वीतराग वृत्ति की महानता ही मानिये कि उन्होने निर्देश दिया– हे गौतम, तुम जाकर आनन्द श्रावक से क्षमायाचना करो। गौतम ने जाकर श्रावक से क्षमायाचना की। इस घटना मे प्रभु महावीर की विराटता तो उल्लेखनीय है ही, लेकिन गौतम स्वामी तथा आनन्द श्रावक दोनों का आत्म स्वरूप उस समय विराटता की ओर अग्रसर था। वस्तुत जब आत्मा विराटता की ओर चरण बढाती है तो उसका स्वरूप और स्वभाव दोनो दिव्य बन जाते हैं।

सिद्धान्तो की विराटता से आचरण के साथ आत्मा की विराटता

आत्मा की विराटता आचरण के साथ विकसित होती है लेकिन वह आचरण विराट सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिये तथा विराट सिद्धान्त वे, जिनका हितावह प्रभाव विराट हो। प्रभु महावीर का आप गुणानुवाद करते हैं तो क्यों ? क्योंकि उनके सिद्धान्त विराट् हैं तथा समस्त ससार का कल्याण करने वाले हैं। उनका आप और हम क्या गुणानुवाद करे– अपने तो जन्मजात उनके शासन को मानने वाले हैं लेकिन अन्य धर्मो के मानने वाले भाई भी महावीर के सिद्धान्तों का गुणानुवाद करते हैं तथा अधिक प्राभाविक ढग से करते हैं। स्वय आचार्य विनोबा भावे ने अन्य दर्शनो के साथ जैन दर्शन का गहरा चिन्तन मनन किया है। यह बात मुझे तब मालूम हुई जब वे इन्दौर चातुर्मास मे स्व आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा से मिले तथा चर्चा के बाद यह अभिव्यक्ति दी कि मेरे

हृदय का अब समाधान हुआ है। उस समय मैं भी आचार्य श्री के सानिध्य मे था। तब विनोबाजी ने कहा था– आचार्य श्री, आप कभी सोचते होगे कि जैनो की अन्य मतानुयायियो से सख्या कम है, किन्तु यह सख्या भले कम हो– जैन धर्म के अहिसा, सत्य, अपरिग्रह, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त इतने विराट् हैं जो दुनिया की चिन्तन धारा मे मिश्री की तरह घुलते जा रहे हैं। दूध में मिश्री दिखती नहीं है, लेकिन दूध के अणु अणु को वह मीठा बना देती है। वैसे ही ये विराट् सिद्धान्त आज हर कसौटी पर कसने के बाद वैज्ञानिक धरातल पर भी खरे उतरे हैं जो प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति के आत्मिक चिन्तन को सही दिशा दे रहे हैं। विनोबा जी के कहने का अभिप्राय यह था कि नाम घराने वाले जैनो की सख्या भले ही कम हो, महावीर के विराट् सिद्धान्तो मे विश्वास रखने वाले और उनको जीवन में उतारने वाले बहुतेरे हैं।

सिद्धान्तों की विराटता प्रत्येक विवेकशील एव जिज्ञासु व्यक्ति को प्रभावित किये बिना नहीं रहती है। आज आधुनिक खोज की दृष्टि से भी कई विदेशी विद्वान् महावीर के महान् सिद्धान्तो की ओर आकर्षित हो रहे हैं। वे इस खोज में हैं कि शान्ति उन्हें किस स्रोत से मिल सकती है ? जिस धर्म मे सबके लिये समानता हो तथा मात्र गुण पूजा का भाव हो– उससे बढकर शान्ति का स्रोत और कौनसा धर्म होगा ? इसके महामत्र मे ऋृषभदेव एव महावीर तक का नामोल्लेख करके भी वन्दन नहीं किया गया है। वन्दन मे केवल गुणधर्मी का ही उल्लेख है। ऐसे विराट् सिद्धान्तो की वास्तविक महिमा पहले उनके अनुयायियो को समझनी चाहिये ताकि अन्य लोगो को आप समझा सके।

सिद्धान्तो की प्रशसा मात्र करने से आत्मा मे विराटता नही आ जायगी। आत्म स्वरूप तभी विराट बनेगा जब सिद्धान्तों की विराटता आचरण मे उतर कर चारित्रिक शक्ति को विराट् बना देगी। सिद्धान्त का सही तेज तभी प्रकट होता है जब वह आचरण में कसा जाकर आत्मस्वरूप मे उज्ज्वलता लाता है। ऐसे सिद्धान्त जैन दर्शन के हैं। जो भी भव्य आत्मा इनको अपनाती है, वह अपने स्वरूप को विराट् बना लेती है।

सीमित घेरो का बन्दी कभी ऊपर नही उठ सकता है

जो सिद्धान्त व्यापक नही, वे विराट् नहीं होते और वह जो सकुचित सिद्धान्तों के चक्कर मे पड जाता है, सीमित घेरो का बन्दी बन जाता है। सिद्धान्त सकुचित बन जाते हैं या बनाये जाते हैं हठ़वाद से। ऐसा 'ही' सही है–

यह हठवाद है। वस्तु स्वरूप की सापेक्ष दृष्टि से जो समीक्षा करना नहीं जानते हैं, वे उसके एक पक्ष को पकड कर उसी को पूर्ण स्वरूप मानने का जब हठ करते हैं तो वह सत्याश भी मिथ्या बन जाता है। सात अंधो और हाथी की कहानी आप जानते हैं। एक-एक अधे की हठ से हरेक झूठा हो गया, वरना सब मिलकर सच थे। इसी हठवाद से विवाद बढता है तो सीमित घेरे बन जाते हैं। सीमित घेरो मे बन्द हो गये तो समझिये कि दिमाग बन्द हो जाता है तथा आगे की प्रगति रूक जाती है। सीमित घेरो मे बन्द हो जाने वाले कभी ऊपर नहीं उठ सकते हैं।

सीमित घेराबन्दी के विपरीत जैन धर्म के सिद्धान्त इतने व्यापक हैं जो कही भी व्यक्तिपूजक नहीं हैं। वे सकुचित भी कही नहीं हैं। सवत्सरी महापर्व के प्रसग से क्षमायाचना करेगे तो क्या केवल अपनी जाति-जाति वालों के साथ करेगे ? इन विराट् सिद्धान्तो मे ऐसा सकोच और ऐसी सीमाबन्दी नहीं है। क्षमायाचना का सूत्र है–

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा वि खमतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वैर मज्झ न केणई।।

अर्थात् मैं सभी जीवो से क्षमायाचना करता हूँ– सभी जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सभी प्राणियो से मित्रता है, किसी के साथ वैर नही है। कितनी विशाल और व्यापक भावना है जिसकी सीमा ससार के समस्त प्राणियो तक फैली हुई है। ऐसे विराट् सिद्धान्तो के साथ सीमित घेरो का सवाल ही कहॉ रहता है ?

यदि आप उदारतापूर्वक क्षमायाचना नहीं करते हैं तो भेद रेखा कैसे दूर होगी ? फिर सीमित घेरो से भी बाहर कैसे निकल सकेगे ? भेद रेखा दो तरह की बताई है। एक रेखा तो चट्टानो की दरार रूप होती है तो दूसरी सुखने पर तालाब की मिट्टी फट जाती है उसके समान। दूसरे प्रकार की रेखा तो वर्षा होने पर मिट जाती है लेकिन पहली तरह की दरार मिटाये नही मिटती है। इसलिये कहीं भेद भी पड जाता है तो वह रेखा तालाब की तरेड की तरह ही हो जो सवत्सरी पर क्षमा की वर्षा होने के साथ ही वापिस भर जावे। चट्टान की दरार तो मनुष्य को सीमित घेरो का बन्दी बना देती है अत आपसी सम्बन्धो मे वैसी दरार नहीं पडने देनी चाहिये।

सीमित घेरो को तोड कर ही ऊपर उठा जा सकता है अत सवत्सरी के पावन अवसर पर हृदय की सकुचितता को निकाल दे तथा विराट् सिद्धान्तो की छाया में अपने हृदय को उदार तथा क्षमाशील बना ले।

आत्म स्वरूप की विराटता का कीर्तिमान है– क्षमाभाव

जब अनन्त क्षमा आत्मा मे विराजमान हो जावे तब समझिये कि आत्म स्वरूप की विराटता अपने कीर्तिमान तक पहुँच गई है। क्षमाभाव का विकास तब होता है जब दूसरो की तरफ दृष्टि डालने की बजाय अपनी ही आत्मा पर दृष्टि रखी जाय। अपनी आत्म शुद्धि करनी है तो पहले अपने विकारो का शमन करना होगा। अपने विकारों का शमन होगा तो दूसरो के दोष नहीं, गुण ही दृष्टि मे आवेंगे, क्योंकि दोष दर्शन स्वय एक विकार है। गुण पूजा सदा प्रेम का प्रसार करती है और जहाँ जीवन मे गुण पूजा की वृत्ति पनप जायगी तो स्वभाव मे क्षमा भाव प्रधान बन जायगा। आत्म शुद्धि के आधिक्य के साथ क्षमाभाव भी गहरा होता जायगा।

क्षमा को वीरो का भूषण कहा गया है। वीर पुरुष ही क्षमा कर सकता है। क्षमा किसको कहें ? जहाँ बदला लेने का सामर्थ्य है, वहाँ बदला नही लेवे, बल्कि वैर भाव भी नही रखें– वहाँ सच्ची क्षमा होती है। ऐसी ही क्षमा परिपक्व बन कर आत्म स्वरूप को विराट् बनाती है।

आज भगवान् महावीर का बताया हुआ मुहूर्त है। इस मुहूर्त को चुका देना है या इसको सार्थक बनाना है ? कुम्हार के 'मिच्छामि दुक्कड' की तरह आचरण करेंगे तो वह ढोंग ही होगा। मुहूर्त को सार्थक बनाना है तो सच्चे और साफ दिल से क्षमा के महान् महत्त्व को अपनाइये एव वैर विरोध का सदा के लिये सफाया कर लीजिये। आत्मालोचना, आत्म सशोधन एव आत्मकल्याण के इस मुहुर्त को पडिताईन की तरह न छोडे, बल्कि इस मुहूर्त मे सीमित घेरो से निकल कर आत्मस्वरूप को विराट् बनाने की दिशा मे प्रमाण कर दीजिये।

क्षमा की समरस धारा का भावनापूर्ण प्रवाह

भगवान् की आज्ञा धर्म है और उस आज्ञा मे मैं या आप ही नहीं, सारा चतुर्विध सघ दृढतापूर्वक चले– यह वाछनीय है। स्व आचार्य देव ने मेरे पर जो उत्तरदायित्त्व डाला और सघ ने जो जिम्मेदारियाँ सौंपी, उनको लेकर मैं देखू कि सघ मे कोई भाई बहिन कदाचित् इधर उधर हो रहे हो तो मेरा कर्त्तव्य मानता हूँ कि एक भाई के नाते उनको सावधानी दिलाऊ। इस कर्त्तव्य पालन मे चतुर्विध सघ को कुछ सुना दिया करता हूँ– साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओ को

भी धर्म ध्यान नही करने पर या कभी दूसरी बातों पर साधु के कर्त्तव्य की दृष्टि से कहता रहता हूँ, उससे किसी की आत्मा को दु ख हुआ हो तो गत सवत्सरी के प्रसग से अब तक मैं अपने आप का निरीक्षण प्राय करता रहा हूँ– कहीं कोई सशोधन हो तो दे देता हूँ और क्षमायाचना भी समय-समय करता रहता हूँ।

जहॉ इस चतुर्विध सघ के सचालन की दृष्टि से वीतराग देवो के उत्तर-दायित्वों को लेकर चलने का प्रसग है, वहॉ ध्यान यही रहता है कि उनकी आज्ञा के अनन्तवे भाग की अवहेलना भी मन वचन व काया से नहीं की जावे। फिर भी छद्मस्तता व अपूर्णता के कारण कदाचित् वीतराग देव के कथन और अभिप्राय के प्रतिकूल यदि जानते अजानते मेरे से कोई भूल हो गई हो तो सायकाल प्रतिक्रमण के समय क्षमायाचना करूगा ही लेकिन अभी सघ के समक्ष सबसे पहले वीतराग देवों से क्षमा चाहता हुआ उनके पवित्र सिद्धान्तो को लेकर चलने वाली सभी आत्माओ से किसी का दिल दुखा हो तो सघ की साक्षी से क्षमा मागता हूँ। इनके अलावा चार गति चौरासी लाख योनियो मे रहने वाली समग्र आत्माओ से भी सम्पर्क जन्य भूल के लिये आत्मीय भावना के साथ खमत खामणा करता हूँ। इस तरह सभी भव्य आत्माओ को सकेत देता हूँ कि वे स्वय को सभाल कर अपना शुद्धिकरण करे– यह श्रेयस्कर है।



10

श्रमणों का उपासक कैसा होता है ?

सूक्ष्म थी सूक्ष्म प्रभु,
चिदानन्द चिद्रूप।
पवन शब्द आकाश थी
सूक्ष्म ज्ञान स्वरूप।।
अनन्त जिनेश्वर नित नमू

प्रार्थना के साथ अनन्तनाथ परमात्मा को नमन का प्रसग उपस्थित हुआ है। नमस्कार मस्तक, दो हाथों और दो पैरो से ही नहीं होना चाहिये– इन अगों के साथ मन भी नमे, भावना भी नमे, तथा श्रद्धा और आस्था भी नमे तब सम्पूर्ण आत्मा का नमस्कार होता है और वास्तव में नमस्कार आत्मा को ही करना है। जहॉ आत्मा का अनुशासन होता है, वहॉ मन, इन्द्रियॉ तथा शरीर उसका अनुसरण करते हैं। बाह्य दृष्टि में यही दिखाई देता है कि नमस्कार मे शरीर और उसके अगो तथा वाणी की प्रक्रिया चल रही है, किन्तु वस्तुत इन समस्त प्रक्रियाओ का सचालन करने वाली आत्मा होती है और आत्मा के अनुभाव के साथ ही नमस्कार आदि प्रक्रियाओ मे यथार्थता आती है।

आत्मानुशासन की कठिन प्रक्रिया पर जिस साधक का समग्र जीवन आरूढ हो जाता है, वह श्रमण कहलाता है। शमन, सहनशीलता एव क्षमा की मूर्ति ही कह लीजिये श्रमण को। तो ऐसे श्रमणों का जो उपासक बनता है, उसको भी कितनी गहराई से आत्माभिमुखी बनना चाहिये– यह समझने की वस्तुस्थिति है।

श्रमणो का उपासक भी श्रमणों का अनुगामी ही होना चाहिये जो यथाशक्ति यथास्थान शमन, सहनशीलता, क्षमा आदि सद्गुणों का आदर्श प्रस्तुत करे।

त्रुटियाँ विकारो के साथ और विकार मन के साथ जुडे रहते हैं

आत्मा सदा सर्वदा स्वरूप की दृष्टि से पवित्र होती है लेकिन इस आत्म स्वरूप को घेर करके कुछ तत्त्व उसे ढक देते हैं और उसी में मन की दशा उन विकारी तत्त्वों के साथ जुड जाती है। इन्ही विकारों के प्रसग से मानव के द्वारा अपने जीवन में तरह-तरह की गलतियाँ और त्रुटियाँ हो जाती है। एक श्रमणोपासक को इसका ज्ञान होना चाहिये तथा त्रुटियों एव विकारों से यथासाध्य बचते रहना चाहिये।

त्रुटियों, विकारों तथा मन के गठबधन को देखते हुए एक दृष्टि से देखा जाय तो नेत्र गलती नहीं करते हैं, कान और जिह्वा भूल नहीं करती है तथा नासिका और त्वचा गलत रास्ते पर नही जाते हैं, बल्कि उनको गलत रास्ते पर ले जाया जाता है। ले जाने वाला मुख्य तौर पर मन माना गया है और मन भी आत्मा का सबल लेकर के अपनी कलुषित वासनामय भावनाओं की तृप्ति के लिये इन सब इन्द्रियो को अपने साथ घेर लेता है और इन इन्द्रियों के विषयजन्य माध्यम से स्वय तृप्ति लेना चाहता है। यह मन का आन्तरिक रूप होता है।

यह मन इन्द्रियो के सामने रग बिरगे और लुभावने दृश्य उपस्थित करता है तथा कल्पनाओं के ताने बाने बुनता है। वह इन्द्रियों को उन तानों बानों मे प्रलुब्ध बनाता है कि देखो, तुम्हें कितना सुन्दर रूप देखने को मिल रहा है। सुनो, तुम्हें कितना आकर्षक सगीत फिल्मी गानों का सुनाई दे रहा है। सूघो, कितनी लुभावनी सुगध चारो और फैली हुई है। चखो, कैसे-कैसे स्वादिष्ट पकवान तुम्हारे भोग के लिये उपलब्ध हैं और स्पर्श करो इन कोमल-कोमल पदार्थो का जो अतीव सुखदाई है। जब विकारो में तृप्ति पाने की कामना करने वाला मन नेत्रों, कानो, नासिका, रसना और त्वचा को इस रूप मे प्रलोभन देता हो तथा उत्तेजित बनाता हो तो फिर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय क्षेत्रों मे भटकने से कैसे रूक सकती है ?

यह आत्मा की ही दुर्बलता अथवा विकारग्रस्तता होती है कि वह ऐसे मन पर अपना नियत्रण कायम नही कर सकती है तथा इन्द्रियो को भी उसके वश मे गलत रास्तो पर भटकने देती है। हकीकत में ऐसी आत्मा मन और इन्द्रियों के अधीन बन कर शिथिल और सुप्त बन जाती है। इस सुप्तावस्था में वह इस बात की सज्ञा भी खो देती है कि मन किस रूप में विकारो से खेल रहा है और

प्राप्त इस मानव जीवन को निरर्थक बना रहा है ?

एक श्रमणोपासक इस रूप मे अपनी आत्मा को सज्ञावान बनाता है कि आत्मा, मन तथा इन्द्रियो की स्थिति तथा गति स्पष्ट बने एव त्रुटियो, विकारो व मन के गठबधन को वह तोड देता है। फिर धीरे-धीरे ही सही, वह आत्म शक्ति को प्रधानता देना प्रारभ करता है।

ज्ञान के सम्यक् आलोक मे आत्म शक्ति को प्रधानता

एक श्रमणोपासक के हृदय मे श्रमणों की सच्ची उपासना करने के साथ ज्यो-ज्यों ज्ञान का सम्यक् आलोक फैलता है तो वह सब तत्त्वो से ऊपर अपनी आत्म शक्ति को प्रधानता देना चाहता है। इस चेष्टा के साथ जब वह भगवान् अनन्त नाथ की प्रार्थना करता है तो कवि के स्वर में स्वर मिला कर कहना चाहता है कि- सूक्ष्म थी सूक्ष्म प्रभु ।

परमात्म स्वरूप की ओर जब उसका अन्तर्चक्षु यत्किचित् रूप मे खुलता है तो उसको यह अनुभूति मिलती है कि वह स्वरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म है, चिदानन्द एव चिद्रूप है तथा वायु, वाणी व आकाश से भी अधिक सूक्ष्म ज्ञान रूप है। आप जानते हैं कि इन चर्म चक्षुओं से वायु नहीं दिखाई देती किन्तु उसके स्पर्श से उसके अस्तित्व का अनुभव होता है। शब्द अपने आपको प्रकट करने मे असमर्थ होते हैं लेकिन आत्म प्रेरणा से मुख के माध्यम द्वारा शब्दो का प्रयोग होता है तथा कानो के माध्यम द्वारा उनको सुना जा सकता है। पवन की तरह शब्दों का स्पर्श प्रतीत नही होता, लेकिन शब्द कर्णकुहरो पर जब टक्कर लगाते हैं तो अन्दर की प्रक्रिया जागृत बन जाती है तथा श्रवण केन्द्र उन शब्दो को पकड कर मस्तिष्क को प्रसारित कर देता है। शब्द लेकिन दिखाई नहीं देता। आकाश तो पवन और शब्द से भी अधिक सूक्ष्म होता है। पवन और शब्द वर्ण, गध तथा स्पर्श वाले होते हैं लेकिन आकाश का कोई वर्ण, गध, स्पर्श नहीं है इसलिये इसके रूप का भी प्रसग नहीं है। आकाश जितना सूक्ष्म होता है, उतना ही व्यापक और विशाल होता है। किन्तु इस आकाश से भी अत्यधिक सूक्ष्म यह ज्ञान स्वरूप आत्मा होती है जो सर्वश्रेष्ठ उज्ज्वलता प्राप्त करने के बाद परमात्म स्वरूपी बनती है।

इस रूप मे जब स्वरूप चिन्तन किया जाता है, तब स्पष्ट होता है कि ससार के विषयजन्य इन मोहक दृश्यो एव सुखाभासो से ऊपर उठने के उपरान्त ही वास्तविक वस्तुस्थिति सामने आती है। राग द्वेष की परिणति बढाने वाले

विकृत तत्त्वो की मोह माया से यह स्वरूप चिन्तन ही निर्भीकता तथा निर्लेपता की प्रेरणा देता है। यह प्रेरणा आत्म शक्ति की प्रधानता बढने के साथ-साथ बलवती बनती जाती है और इन विकृत तत्त्वों से मुक्ति दिलाती रहती है।

आत्म शक्ति की प्रधानता से निर्भीकता इस रूप मे ढलती है कि एक श्रमणोपासक या साधक मन या इन्द्रियों की उद्दडता अथवा उच्छृखलता को सहन नहीं करता है तथा नियत्रण की डोरी को कस देता है। चूकि उसके अन्त करण मे वासनाओ की लालसा और सासारिक आकर्षणों की ममता मन्द हो जाती है, वह मन और इन्द्रियों के चक्कर मे फसता नही है, बल्कि निर्भीकता से उनका शमन करना सीख जाता है। यह निर्भीकता जितनी बढती है, उतनी ही यह आत्मा विकारी तत्त्वो से निर्लेप बनती जाती है। निर्लिप्तता की चरम स्थिति ही तो परमात्म स्थिति होती है।

आत्मा के मूल गुणो का विकास श्रमणो की उपासना से

जो श्रमणों के सत्सग मे आता है तथा उनकी उपासना मे अभिरुचि बढाता है, वह अपने आत्म स्वरूप को ही नहीं पहिचानता है, बल्कि आत्मा के मूल गुणो के विकास मे भी यत्नशील बन जाता है। एक श्रमणोपासक सच्चा भगवनभक्त भी होता है, उसके जीवन मे एक अलौकिक शक्ति जागृत होती है। कवि कहते हैं–

सच्चा भक्त बन जाऊ, भगवान् तुम्हारा अब मैं।
क्रोध निकट नहीं आने दू, शास्त्र अचूक क्षमा का लू
दूर ही से मोह को मार भगाऊ।
सच्चा भक्त बन जाऊ।।

क्या आप भी भगवान् के सच्चे भक्त बनना चाहते हैं ? सच्ची भक्ति मौखिक नहीं होती है, उसके लिये आत्मा के मूल गुणो का विकास अनिवार्य होता है। ये आत्मा के मूल गुण क्या हैं ? अक्रोध, क्षमा, अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, समता आदि। ये मूल गुण जब विकसित एव प्रभावशाली बनकर स्वभाव में ढल जाते हैं, तभी आत्म स्वरूप भगवान् की भक्ति के योग्य बनता है।

मूल गुणो का विकास इस तथ्य पर आधारित होता है कि आपने अपने जीवन से कितने अशों में विकारों को दूर किया है। जब तक विकारो का दौर दौरा रहता है, मूल गुण विकास नहीं पाते हैं, क्योंकि मूल गुणो के विकास के

लिये निर्विकारी धरातल की आवश्यकता होती है। पानी के दृष्टान्त से इसको समझें। पानी भी दो तरह का होता है– निर्विकारी याने बिल्कुल साफ सुथरा तथा दूसरा विकारी याने गन्दला। आत्मस्वरूप या जीवन की इससे तुलना करले। आत्मा का मूल स्वरूप निर्विकारी होता है स्वच्छ जल के समान और जब विकार इस जीवन से जुडते हैं तो वह गटर के पानी के समान हो जाता है, जिस पानी मे खराब से खराब गन्दगी मिली हुई होती है। तृषित व्यक्ति को निर्मल जल तृप्ति देता है। गटर के गन्दे पानी या समुद्र के खारे पानी को तो वह प्यासा होकर भी पी नहीं सकेगा। इस तरह जीवन मे गन्दे या खारे पानी को पीने के लिये वही व्यक्ति आगे बढेगा, जिसमें विवेक नही है तथा मूल गुणो का तनिक भी विकास नहीं हुआ है।

आत्मीय गुणो की विद्यमानता में व्यक्ति का विवेक जागृत एव समुन्नत रहता है और विवेकशील सदा निर्मल जल की ही खोज करेगा। वह इस सत्य को जानता है कि प्यास निर्मल शीतल जल से ही बुझेगी। वह इस सत्य को भी जानता है कि शीतल जल के समान ही जब आत्मा अपने मूल गुण क्षमाशीलता का विकास कर लेती है तो वह अन्य लोगो को अपनी स्वभाव शीतलता से शान्ति पहुँचा सकती है। क्षमाशीलता यह आत्मा की अमोघ शक्ति के रूप में प्रकट होती है और अकेले इस गुण को ही पूर्णता से ग्रहण करके योगी योगसाधना मे तन्मय हो जाते हैं, महात्मा परमात्मा से साक्षात्कार करने की दिशा में आगे बढते हैं तो श्रमणों की उपासना के बल पर श्रमणोपासक अन्य अनेकानेक आत्मीय गुणो का श्रेष्ठ विकास साध लेते हैं।

श्रमणो के उपासक के लिये क्षमाशीलता अति महत्त्वपूर्ण

श्रमण क्षमा की साकार मूर्ति कहा जाता है तो जो अपने को श्रमण का उपासक कहने का दावा करता हो, सोचिये कि क्षमाशीलता का गुण उसके लिये कितना महत्त्वपूर्ण होता है। यदि जल में से शीतलता निकल जाय तो उसका स्वाद कैसा हो जायगा ? शीतलता विहीन जल तृप्ति के योग्य नहीं रहता तो जीवन मे क्षमाशीलता के गुण का ही अभाव हो तो वह जीवन भी शान्ति के योग्य नही रहता है।

क्षमा को सामान्य जीवन के लिये भी प्रथम गुण माना गया है। दस प्रकार के यति धर्म में क्षमा पहला धर्म है। श्रमण के लिये तो क्षमा मूल आत्मा है, जो यदि नहीं आवे तो श्रमण को श्रमण कहना भी अर्थहीन हो जाता है। तो

क्षमाशीलता का गुण श्रमणो के उपासक के लिये प्रथम बिन्दु पर उपादेय एव ग्राह्य माना गया है।

सेठ सुदर्शन एव अर्जुनमाली का वर्णन आपने सुना है। सुदर्शन अर्जुनमाली के प्रश्न का क्या उत्तर देता है ? अर्जुनमाली ने सेठ का परिचय पाने के लिये पूछा– आप कौन हैं ? सेठ ने उत्तर दिया– मैं श्रमणोपासक हूँ– श्रमणों की सच्चे हृदय से उपासना करने वाला हूँ। उसने फिर पूछा– कहॉ जा रहे हैं ? उत्तर मिला– श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिये जा रहा हूँ। श्रमण शब्द की गूज ने अर्जुन के हृदय मे भी परिवर्तन की लहर फैला दी। श्रमण शब्द मे कितना रहस्य भरा हुआ है ? श्रमण जीवन क्षमा की गोद मे पल्लवित एव पुष्पित होता है तथा फलित होकर परम शान्ति प्राप्त करता है। श्रमण पद तो सिद्ध पद तक पहुँचता है, लेकिन श्रमण का उपासक भी आत्म श्रेष्ठता की श्रेणियों मे उन्नत बनता है।

अभी ही तो आपने क्षमापना दिवस मनाया है और सबसे क्षमायाचना की है। क्या क्षमा के सच्चे रूप को भी आपने समझा है ? क्या याचना के मर्म को भी दिल मे उतारा है ? केवल अपराधी के प्रति शान्त रह जाना ही क्षमा नहीं है। यह क्षमा का प्रारम्भिक चरण हो सकता है। उदाहरण लीजिये कि एक शक्तिशाली पुरुष ने दूसरे व्यक्ति का तिरस्कार किया जो उसका विरोध करने में अशक्त था। तो उस तिरस्कार पर वह चुप रह गया। इसमे क्षमा का भाव कम और विवशता का भाव अधिक होता है। अगर वह मन ही मन कुढे तो क्षमा के भाव का अभाव भी हो सकता है। वह यह सोचे कि अभी मजबूर हूँ, मौका मिलेगा तो जरूर बदला लूगा तो वहॉ क्षमा का प्रारम्भ भी नही है। यदि वह ऊपर की शान्ति को समझ के साथ मन की शान्ति मे बदल देता है तो वह धीरे-धीरे क्षमा का विकास कर सकता है। बिना भीतरी तैयारी के कोरी बाहर की खामोशी मजबूरी होती है, क्षमा नही।

एक अन्य व्यक्ति है जो इसी प्रकार शक्तिशाली पुरुष से तिरस्कृत होकर चुप रहता है अपनी अशक्ति के कारण, मगर मन ही मन सोचता है कि भगवान् इससे इस तिरस्कार का जरूर बदला लेगे तो चूकि उसकी अन्दर की भावना क्षमाशील नहीं बनी तो मानिये कि उसने भी अपने उस व्यवहार मे क्षमा के महत्त्व को नही समझा है।

एक तीसरा व्यक्ति है वह भी उस शक्तिशाली पुरुष से तिरस्कार पाता है। वह सशक्त होते हुए भी चुप रहता है, लेकिन मन मे विचार करता है कि मेरे पूर्व कर्मों का उदय था इससे उसने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया। यदि मैं उससे

दला लूगा तो मैं भी उसके व्यवहार का अनुकरण ही करूगा तथा नये कर्मो का ध होगा– यह सोचकर वह समभाव बना लेता है तो माना जायगा कि उसने नमाशीलता के गुण का सही अर्थ समझा है। यद्यपि वह शक्तिशाली पुरुष का अपनी शक्ति से प्रतिकार कर सकता था, वह उसने नही किया लेकिन उसने अपने मन मे क्रोध एव कलुष भी नहीं आने दिया– ऐसा सच्ची क्षमा का प्रसग होता है।

मैं तो आपसे भी कहूगा कि श्रमणो की उपासना करते हुए भी यदि आपने सच्ची क्षमाशीलता को नही समझी तथा उसे नहीं अपनाई तो क्या आप सच्चे श्रमणोपासक भी कहला सकेगे ?

मन की सच्ची क्षमा सामने वाले के दिल को जीत लेती है

सेठ सुदर्शन ने कैसी क्षमा अपनाई थी ? सेठ को मारने के लिये अर्जुन माली ने मुद्गल उठाया तो क्या सेठ ने उसका कोई अपराध किया था ? सेठ तो निर्दोष था। ऐसे मारने वाले व्यक्ति को सच्चे मन से क्षमा कर देना बडा कठिन होता है। मन की सच्ची क्षमा सामने वाले का दिल जीत लेती है। सेठ की सहनशीलता ने अर्जुनमाली के मन पर असर किया– वह उसके मन की क्षमा थी। उस का मन बदल गया, उसने हत्याएँ करना छोड दिया तथा श्रमणोपासक बनने के लिये सेठ के साथ हो लिया। ऐसा होता है सच्ची क्षमा का सुप्रभाव।

उधर अर्जुनमाली से बदला लेने के लिये सेठ सुदर्शन पूर्णत समर्थ था, किन्तु उसने समभाव रखकर अर्जुनमाली को क्षमा प्रदान कर दी। ऐसी क्षमा दोनो तरफ शान्ति फैलाती है। सेठ सुदर्शन और अर्जुनमाली दोनो श्रमण भगवान् महावीर के चरणों मे बहने वाली क्षमा की गगा मे अवगाहन करने के लिये पहुँच गये। क्या उन्हीं श्रमण भगवान् की क्षमा– गगा मे आप भी अवगाहन कर सकते हैं ? जो सच्चे दिल से अवगाहन करना चाहे, वे कर सकते हैं। आज के अर्थयुग मे बहने वाली द्रव्य गगा मे कौन प्रवेश पा सकता है– पापी या धर्मी, धनवान या गरीब ? द्रव्य गगा का नक्शा तो बडा निराला है, लेकिन श्रमण भगवान् की क्षमा– गगा में तो सभी प्रवेश पा सकते हैं, वहाँ किसी के लिये कोई रूकावट नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि वह अपने मानस को उस गगा मे अवगाहन करने के योग्य बनाले।

जैसे गगा जल को पवित्र मानते हैं, वैसा ही या उससे भी कई गुना अधिक होता है क्षमाशील आत्मा का स्वभाव। महावीर प्रभु अपनी अपार क्षमाशीलता के कारण ही श्रमण भगवान् कहलाये। श्रमण का पहला धर्म क्षमा होता है। उसी की गोद में अर्जुनमाली सरीखे पापी पहुँचे तो उस गगा मे गोते लगाकर सिद्ध बुद्ध बन गये। यह सब आप बराबर सुनते रहते हैं कि मन की सच्ची क्षमा सामने वाले के दिल को जीत लेती है, लेकिन क्या क्षमा को स्थायी रूप से अपने मन में धारण करने की वृत्ति भी आपने जागृत बनाई है ? क्या आप अपने आपको श्रमणो का उपासक नही बताते ? तो क्या आपने यह नही सोचा कि श्रमणों का उपासक कैसा होता है ?

श्रमणो का उपासक मूल रूप से क्षमा का उपासक होना चाहिये। क्षमा की उपासना यदि वह नहीं कर सका तो वस्तुत उसे श्रमणोपासक कहलाने का अधिकार नहीं है।

श्रमणोपासक का गृहस्थ भार तथा क्षमाशीलता का आधार

आप सोचेंगे कि एक श्रमण क्षमाशीलता को अपने जीवन का आधार बना कर चले सो तो ठीक है, लेकिन क्या हम गृहस्थ होकर क्षमाशीलता को अपने समग्र जीवन का आधार बना सकते हैं ? यदि क्षमा का पाठ पढ लेंगे तो व्यापार-व्यवसाय कैसे चलायेंगे, बल्कि परिवार का अनुशासन भी कैसे निभा सकेंगे ? आप कह सकते हैं कि बिना क्रोध के न व्यापार का सचालन हो सकता है तथा न ही परिवार का अनुशासन निभ सकता है। मैं कहना चाहता हूँ कि आपका ऐसा विचार सही तथा समुचित नही है।

बताइये, व्यापार में क्रोध कहाँ आवश्यक है ? क्रोध तो व्यापार का घातक होता है। आपका जितना नम्र तथा मधुर व्यवहार होगा, आप अधिकाधिक ग्राहकों को अपनी तरफ आकर्षित कर सकेंगे। दुकानदारी नरमी से चलती है या गरमी से यह आप खूब जानते हैं। सच तो यह है कि क्षमा के गुण को लेकर चलने वाला व्यापारी ही अपने उद्देश्य मे सफल होता है। वकील कौन सफल होता है– अपने मुवक्किलों के साथ शान्त व्यवहार करने वाला या बात-बात पर गुस्सा करने वाला ? शान्त व्यवहार ही एक क्या सभी प्रकार के व्यवसायों में सफलता दिलाता है। ऐसा ही परिवार के अनुशासन में भी होता है। क्रोधी व्यवहार से कुछ अर्से के लिये परिवार के सदस्य भले ही सामने नहीं बोले, लेकिन भीतर ही भीतर वे ऐसे विद्रोही हो जाते हैं कि परिवार की सयुक्तता ही

खतरे में पड जाती है। परिवार मे शान्त एव क्षमाशील व्यवहार सभी सदस्यों के दिलो को जीत लेता है और ऐसा वातावरण बना देता है जो सभी दृष्टियो से मधुर तथा उन्नतिदायक होता है। परिवार उसी का शान्ति से रहता है जिसका मुखिया क्षमाशील होता है। ऐसा मुखिया छोटे बडों की खींचातानी मे नहीं पडता है तथा सबके साथ समान रूप से मधुरता का व्यवहार करता है। जिस समाज के मुखिया और सदस्य क्षमाशील हो तथा आत्मवत् व्यवहार सबके साथ करते हो। यही राष्ट्र और विश्व की स्थिति मानिये कि जहॉ परस्पर के व्यवहार मे जितनी अधिक क्षमा है, वहॉ उतनी ही अधिक शान्ति रहेगी।

व्यक्ति ही नहीं, समाज, राष्ट्र और विश्व भी यदि क्षमाशीलता के आधार को पकड लेता है तो वहा भी शान्ति का वातावरण बन जाता है। इसलिये गृहस्थी का भार उठाने वाले श्रमणोपासक के लिये तो क्षमाशीलता के आधार की और अधिक आवश्यकता है, क्योकि एक सच्चा श्रमणोपासक ही अपने व्यवहारिक जीवन में क्षमा के आदर्श को चमका कर समाज, राष्ट्र तथा विश्व को क्षमाशीलता के आधार पर खडे होने की सफल प्रेरणा दे सकता है।

श्रमणोपासक का जीवन आदर्शो का साकार चित्र बने ।

कोई पूछे कि एक श्रमणोपासक कैसा होता है, तो मैं कहना चाहूगा कि एक सच्चे श्रमणोपासक का जीवन वीतराग देवो के आदर्शो का साकार चित्र बने। शास्त्रों में पढकर सिद्धान्तो को जानने की बजाय एक श्रमणोपासक के व्यवहारिक जीवन को देखकर एक अन्य व्यक्ति सिद्धान्तों का ज्ञान करले तो समझिये कि वह जीवन्त व्यवहार है। ज्ञान वही सफल माना जाता है जो व्यक्ति के चारित्र्य मे प्रविष्ट होकर उसको चमका दे। अत श्रमणोपासक के जीवन मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की पवित्र त्रिवेणी बहनी चाहिये।

आप यह मानकर चलते हो कि आत्मीय गुणो का विकास करेगे, क्रोधादि विकारों को छोडेगे अथवा क्षमादि वृत्तियो को अपनावेंगे तो परलोक ही सुधरेगा तो ऐसी मान्यता की आवश्यकता नहीं है। मैं कहता हूँ कि इन कार्यो से पहले तो यही लोक सुधरेगा। प्रत्यक्ष जीवन में यदि इन कार्यों से सच्चा आनन्द और सच्ची शान्ति मिल जाती है तो परलोक तो स्वत ही सुरक्षित बन जायगा। वीतराग देवों के आदर्शों तथा गुणो को ग्रहण करने से इहलोक और परलोक– दोनो लोकों में मधुर फल की प्राप्ति होती है।

आदर्शों का साकार चित्र वही बना सकता है जो आत्म स्वरूप का कलाकार हो और ऐसी कला प्राप्त होती है आत्मीय गुणों के सम्यक् विकास से। यह विकास बडा महत्त्वपूर्ण होता है क्योकि इसके लिये अपनी ही आत्मा मे रहे हुए विकारो से कठिन सघर्ष करना पडता है। यह सघर्ष तभी सफल होता है जबकि यह सघर्ष एक वीर योद्धा का सघर्ष हो। कहा है— क्षमा वीरस्य भूषणम्। इसका क्या अर्थ है ? क्षमा वीरो का भूषण होता है, कायर का नही। क्षमा वही अपना सकता है जो वीर हो। वास्तव मे विकारो से लडकर उन्हे समाप्त करना तथा आत्मीय गुणो के विकास की दिशा मे अग्रसर बनना ही अनुपम शौर्य्य तथा अद्‌भुत वीरता का कार्य होता है।

तो एक श्रमणोपासक वीर योद्धा बने ताकि अपने विकारो को पराजित कर सके। और वह एक कलाकार भी हो जो आत्म स्वरूप पर आदर्शों के साकार चित्र बना दे। श्रमणोपासक ममता का त्यागी हो तो समता का साधक बने। वह श्रमणों की उपासना में अपने जीवन को भव्य बनावे और अपने चारों ओर के वातावरण मे भी भव्यता का निर्माण करे। जीवन की भव्य महिमा उसमें तथा उसके चारो ओर फूट पडनी चाहिये।



11

धर्म जिनेश्वर, मुझ हिवड़े बसो !

धर्म जिनेश्वर, मुझ हिवडे बसो,
प्यारा प्राण समान।
कबहु न बिसरू हो, सदा चितारू
सदा अखडित ध्यान।।

धर्मनाथ परमात्मा को कवि विनयचन्द्र जी ने अपने हृदय में निवास करने का निमत्रण दिया है। इन पक्तियों मे जो भाव झलक रहे हैं, उन भावो पर बुद्धिवादी व्यक्तियों के प्रश्न खडे हो सकते हैं।

प्रश्न होना स्वाभाविक है। वीतराग देवो ने सिद्धों का वर्णन करते हुए कहा है– वे लोकाग्र में होते हैं अर्थात् लोक के सर्वोच्च भाग में वे अचलता के साथ विराजमान हैं। अचलता का अर्थ होता है स्थिरता एव उनकी स्थिरता मैरु पर्वत से भी अधिक मानी गई हैं। सिद्ध परमात्मा को इस स्थिरता को शास्त्रकारो ने शैल की उपमा दी है कि जैसे पर्वत की अडोल अवस्था होती है, उसी प्रकार सिद्ध शिला पर सिद्ध आत्माएँ अविचल भाव मे स्थित रहती हैं। लेकिन पर्वत की उपमा भी एक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। पर्वत की स्थिति कितनी ही अडोल हो, फिर भी उसके अणु-परमाणुओ का प्रवाह हो चलायमान ही रहता है। अनन्तानन्त परमाणु उसमें प्रवेश पाते हैं तो उतने ही न्यूनाधिक मात्रा में निकलते भी रहते हैं। उस की स्थिति में प्रकपन भी होते हैं, लेकिन ऐसी अवस्था सिद्धो मे नहीं है। उनके आत्म प्रदेश न निकलते हैं, न पुन प्रविष्ठ होते हैं। उन प्रदेशो मे कहीं भी हलचल नही होती है। उन सिद्ध आत्माओ मे जब ऐसी अवस्था नहीं है तो एक दृष्टि से पर्वत की उपमा उनके लिये अनुपयुक्त ठहरती है। लेकिन ओर कोई पदार्थ ऐसा नहीं होने से शास्त्रकारों ने सामान्य जन को सिद्धों की स्थिति का सामान्यत बोध कराने के लिये पर्वत की उपमा दी है।

इस उपमा को भी माने, तब भी क्या कवि का उनको अपने हृदय में बसाने का निमत्रण उचित कहला सकेगा ?

निमत्रण का मर्म क्या है-- इसे समझना होगा

धर्मनाथ परमात्मा सिद्ध हो चुके हैं तथा कवि ने सिद्ध परमात्मा को आमत्रण दिया है कि वे आकर उनके हृदय में अपना निवास करले। निमत्रण देने के समय कवि तो भूखड पर भौतिक पिड मे रहने वाली एक आत्मा के रूप में थे और उस समय सिद्ध परमात्मा को निमत्रण देने का क्या यह तात्पर्य समझा जाय कि वे सिद्ध शिला से चल कर इस ससार मे आवे तथा कवि के हृदय मे बसे ? यदि कवि ने ऐसी कल्पना की हो तो कहना होगा कि कवि ने जैन धर्म के मर्म को नही समझा और उन्होने भी अन्य दार्शनिको की तरह परमात्मा का आह्वान करने का ही प्रयास किया। किन्तु ऐसी बात नही थी। कवि श्री विनयचन्द जी तो जैन धर्म का मर्म भी समझते थे तथा अपने द्वारा दिये जा रहे निमत्रण का मर्म भी समझते थे। इस निमत्रण का मर्म तो आपको समझना है कि कवि ने सिद्ध परमात्मा को अपने हृदय मे निवास करने का निमत्रण क्यों दिया ?

कवि ने जो इस प्रकार का निमत्रण दिया है, वह भी सप्रयोजन है। एक ही वाचा से या एक ही भावना से काव्य साहित्य का निर्माण नही होता है। कवि काव्य मे रस का निर्वाह भी करता है तो इस प्रार्थना में भक्ति रस की मार्मिक विशेषता अकित की गई है। भक्ति रस के मधुर प्रवाह में जब कवि की भावुकता प्रवाहित होती है, तब वह परमात्मा के साथ अतीव रागात्मक सम्बन्ध जोड लेता है। यह राग धर्मानुराग होता है। दूसरे ऐसे काव्य को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखने की आवश्यकता होती है। और कवि विनयचन्द जी तो आगमो के ज्ञाता थे, उन्होंने इस प्रार्थना की रचना कोरी कल्पना के आधार पर नही की है, बल्कि आगमो की विभिन्न शैलियो तथा पद्धतियों का अध्ययन करके उन्होंने अपने भाव सुमन इन प्रार्थनाओ में समर्पित किये हैं।

वीतराग देव अर्थ रूप से जो शास्त्र की वाणी फरमाते हैं, उसमे वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन होता है। प्रत्येक वस्तु के कई स्वभाव हैं। उन सब स्वभावो का एक ही साथ एक ही प्रकार के शब्दो मे व्यक्तीकरण नहीं होता है। ऐसा व्यक्तीकरण साधारण व्यक्ति के लिये तो अशक्य ही है, लेकिन तीर्थकरो के लिये भी शक्य नहीं है। कोई सोचे कि तीर्थकर तो सर्वशक्तिसम्पन्न होते हैं, फिर उनके लिये ऐसा व्यक्तीकरण शक्य क्यो नहीं ? भावों को शब्द में व्यक्त करना होता है

तथा शब्द रूपी होते हैं। पुद्गलो की सीमा असीमित नहीं होती। आपके पास एक मण घी हो लेकिन पात्र पाच सेर का ही हो तो पात्र मे तो पाच सेर घी ही भर सकेगे। तो यह पात्र की बात है– शब्दो की शक्ति-सीमा की बात है। तीर्थंकरो की भाव-शक्ति तो अनन्त होती है। लेकिन शब्दो के माध्यम से प्रकट किये हुए भावो को ही ससार का सामान्य जन ग्रहण कर सकता है। वीतराग देव अपने वचनों का प्रयोग व्यर्थ नहीं करते हैं। वे उन्हीं शब्दो का प्रयोग करते हैं जिसे जन मानस अपनी भाषा में समझ सके और वह प्रयोग भी कम से कम करते हैं। यही कारण है कि शास्त्र सूत्र रूप होते हैं। उपदेश की धारा मे और जन साधारण के वचनो में बहुत अन्तर होता है। उपदेश तो वचनो के माध्यम से दिया जाता है किन्तु उसके विविध दृष्टिकोणो को जानने के लिये श्रुत ज्ञान विशेष आधार होता है। पाचो ज्ञानो में से जनता के लिये कोई विशेष उपकारी ज्ञान होता है तो वह श्रुत ज्ञान ही है।

श्रुत ज्ञान के बिना न तो भगवान् उपदेश देंगे तथा न ही जनता उस उपदेश को समझ पाएगी। केवल ज्ञान का उपदेश कैसा होगा ? वह आकाश के समान अनन्त है लेकिन उस अनन्त आकाश को समाविष्ट करने के लिए जन मानस में अवकाश कहाँ है ? वह केवल ज्ञान आकाश के समान अनन्त है, उस अनन्त को श्रुत ज्ञान के माध्यम से ही शब्दो मे ढालकर सामान्य जन को सुनाया जा सकता है।

तो कवि के निमत्रण के मर्म को समझने के लिये एक तो आगमों की शैली तथा वीतराग देवों की उपदेश पद्धति की कुछ जानकारी ली। इसके साथ ही व्यक्तिकरण की विविधअर्थी परिपाटी को दार्शनिक नयवाद की दृष्टि से भी समझ लेना चाहिये।

अनन्त धर्म की अभिव्यक्ति के लिये नयवादी शैली का आश्रय

अनन्त धर्म के विविध दृष्टिकोणों को स्पष्टतापूर्वक अभिव्यक्त करने के लिये वीतराग देवो ने अपने उपदेशो मे नयवादी शैली का भी आश्रय लिया है। ये नय सात प्रकार के बताये गये हैं। सातो नयो की वाचा अलग-अलग है, किन्तु उन सबका प्रयोजन एक है– धर्म स्वरूप को अभिव्यक्त करना। सात नयो की भाषा यदि कोई व्यक्ति पहली बार सुने तो उसे आश्चर्य होगा कि इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो का समन्वय कैसे किया जाता होगा ?

ठाणाग सूत्र के पहले अध्ययन मे प्रभु ने कहा कि– एगे आया अर्थात् आत्मा एक है और अन्यत्र कहा है कि आत्मा अनन्त है। विचार हो सकता है कि यह परस्पर विरोधी बातें कैसे कही है ? एकागी दृष्टि से सोचने पर विरोधाभास लगता है, लेकिन विरोध है नही। यह नयवादी दृष्टिकोण है। सात नयों मे सग्रह नय की दृष्टि से कहेगे तो 'एक आत्मा' की कहेगे। यह एक शब्द का प्रयोग समस्त आत्माओ के मूल धर्म को लेकर किया गया है। जाति की दृष्टि से मनुष्य जाति एक हुई। हॉ व्यक्ति की दृष्टि से मनुष्य कई हो जायेगे। यह एकता और भिन्नता सापेक्ष है। सग्रह नय की अपेक्षा से आत्मा एक है तो व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा अनन्त है। इसी तरह व्यवहार व निश्चय नय भी एक ही सिक्के की दो बाजुएँ हैं। कई भाई सोचते हैं कि व्यवहार मे तो सब कुछ चलता है, निश्चय की बात सत्य होती है। ऐसा नही है। नय तो भाषा की विभिन्न शैलियॉ हैं जिनके द्वारा एक सत्य को विविध अपेक्षाओ से प्रस्तुत किया जाता है।

आत्मस्वरूप को समझने तथा धर्म की गहनता को प्रकट करने के लिये नयवाद की शैली का आश्रय लिया जाता है। उपरोक्त प्रार्थना के माध्यम से आत्म स्वरूप को ही समझने का प्रयास करना है। कवि का जो यह निमत्रण है, वह एक दार्शनिक स्थिति है। यह सिद्ध परमात्मा धर्मनाथ के नाम का निमत्रण वस्तुत अपनी ही आत्मा को निमत्रण है कि वह प्रार्थना के माध्यम से परमात्म स्वरूप को समझे तथा उस परम स्वरूप को प्राप्त करने के लिये आवश्यक तैयारी करे। स्वय सिद्ध परमात्मा तो चलायमान होते नही है, किन्तु उनका स्वरूप ज्ञान इस हृदय मे यदि गहरा उतर जावे तो इस आत्मा की भी यह ललक और लगन लग जायगी कि वह परमात्म स्वरूप की तरफ प्रगमनशील बने। कवि का उद्देश्य है कि ऐसे निमत्रण द्वारा आत्मा में अपने चरम उद्धार का पराक्रम जागृत हो।

यह निमत्रण परमात्मा को नही,
परमात्म स्वरूप के लिये है।

प्रत्येक भव्य आत्मा का यही चरम लक्ष्य होता है कि वह परमात्म स्वरूप का वरण करके सिद्ध पद पर पहुँच जाय। यह निमत्रण भी वास्तव मे सिद्ध परमात्मा को नही, परमात्म स्वरूप के लिये है कि यदि वह स्वरूप हृदय मे बस जाय और आत्मा मे उसको प्राप्त करने का पुरुषार्थ जाग जाय तो यही आत्मा सिद्ध परमात्मा बन सकती है।

कवि ने धर्म जिनेश्वर को निमत्रण दिया है। क्या आपकी भी तैयारी है ? सोचिये कि साधुमार्गी सघ के अध्यक्ष को निमत्रण दें तो उनको बिठाने की तैयारी तो करनी पडेगी– कमरे को साफ करेगे या कुछ बिछावन लगायेगे आदि। और जवाई जी को बुलाना होगा तो कई तरह की तैयारियॉ करनी पडेगी। कहने का मतलब यह है कि जैसे पुरुष को निमत्रण देंगे, उसके स्तर के अनुसार तैयारी करनी होगी। अब धर्म को निमत्रण देना है तो वैसा स्थान – वैसी स्वच्छता आदि की तैयारी होनी चाहिये। अत निमत्रण देने से पहले हृदय रूपी स्थान का अवलोकन तो कर लें।

आपका हृदय रूपी कक्ष साफ है या गन्दा ? उसमे कुछ बिछाने-सजाने को भी है या नहीं ? और यदि वहॉ गन्दगी है, दुर्गंध है, साधन हीनता है तो क्या आप उसमे धर्म का स्वागत कर सकेगे ? कवि कहते हैं– हे प्रभु, मेरे हिवडे मे बसो। उसका तात्पर्य है कि आवरणों के नीचे जो आत्म स्वरूप दब गया है–बिगड गया है, वह अपनी चेतना सम्हाल कर हृदय के सिहासन पर बैठे और बाकी सब पर अपना अनुशासन चलावे। जब राजा सिहासन पर बैठे तो जिस कक्ष मे सिहासन रखा हो, वह कक्ष मलिन और श्रीहीन हो– ऐसा तो नहीं चलेगा। हृदय की शुद्धि तथा साज सज्जा आत्म स्वरूप की गरिमा के अनुरूप होनी ही चाहिये।

कभी कोई भद्रिक भाई ऐसा भी समझ लेते हैं कि मत्रों के बल से भगवान् को बुला लेते होंगे। सोचिये कि मत्र बडा या भगवान् ? जो मत्रविद् भगवान् को बुलाले तो भला वही भगवान् क्यो न हो जाय ? इसलिये ऐसा होता नहीं है। शाश्वत सत्य यही है कि यही आत्मा अपने सुकृत्यों से सद्गुण पूरित बनकर सिद्ध पद को प्राप्त कर लेती है तब परमात्मा बन जाती है।

प्रश्न यही है कि यह आत्मा ससार मे परिभ्रमण करती हुई कर्मो के मैल से ढक गई है। यह मैल इतना सड रहा है कि इसकी दुर्गंध असह्य बनती जा रही है। अपनी आत्मा के स्वरूप को प्रकट करना है, धर्म को जीवन मे उतारना है और धर्म जिनेश्वर को निमत्रण देना है तो पहले इस मैल को–इस सडान्ध को साफ करना जरूरी है। जब कक्ष की दीवारे पुत और रग जायगी– जब बिछावन होकर गाव तकिये लग जायेगे तथा चारो और सुखद साज सज्जा जम जायगी तो बडे मेहमान को बुलावा देने की हिम्मत भी हो सकेगी। धर्म को हृदय के आसन पर आरूढ करना है तो हृदय को निर्मल एव प्रकाशमय बनाना होगा।

कवि ने प्रार्थना में यही प्रेरणा दी है कि तुम्हारे से यदि अखडित शुद्ध ध्यान न बन पडे तो उतनी आत्म-निष्ठा तो बनाओ कि चलते फिरते, उठते

बैठते किसी भी क्रिया के समय अपने आप को नही भूले। जैसे प्राण पण की स्थिति का सदा ख्याल रखते हैं इसी तरह यह आत्मा सदा जागृत बन कर धर्म को क्रियात्मक रूप से मन-मस्तिष्क मे लेकर चले तो समझिये कि आपके निमत्रण पर धर्म जिनेश्वर हृदय मे निवास करने हेतु पधार जावेंगे।

निमत्रण है धर्म को,
निमत्रण है आत्म-चेतना को

धर्मनाथ को क्या निमत्रण है– यह तो स्वय धर्म को ही निमत्रण है कि वह हृदय मन्दिर में सदा के लिये निवास करले। धर्म को निमत्रण देने से भी पहले निमत्रण है अपनी स्वय की आत्म चेतना को कि वह अपनी स्वरूप शुद्धि करके धर्म का स्वागत करने के योग्य बन जाय। अपनी चेतना जागृत बन कर जब अपने नियन्त्रण कक्ष मे धर्म को आरूढ कर लेगी तो लक्ष्य की ओर इस आत्मा की यात्रा आरभ हो सकेगी।

धर्म को निमत्रण दिया है तो धर्म का स्वरूप भी समझना होगा। शास्त्रो मे धर्म की छोटी सी एक परिभाषा दी गई है कि–" वत्थु सहावो धम्मो"–अर्थात् जो वस्तु का स्वभाव है, वही उसका धर्म है। जो अपने भाव मे रहे तो समझना होगा कि वह धर्म के साथ चल रहा है। इसलिये फिर मूल बात पर आ जाते हैं कि अपना या निज का भाव क्या है, जिसको स्वभाव माना जा सके। जब कोई स्वभाव से विपरीत चल रहा हो तो वह स्थिति विभाव की स्थिति कहलायगी। अपने भाव मे नहीं तो विपरीत भाव मे। लक्ष्य यह है कि विभाव से स्वभाव में पहुँचे।

तो प्रश्न है कि आत्मा का धर्म क्या है याने कि उसका स्वभाव क्या है ? आत्मा का अपना भाव होता है उर्ध्वगमिता–ऊपर उठना। जब आत्मा आवरणो से मुक्त होती है तो वह हल्की होकर ऊपर उठती है। वह अपने भाव मे जब पूर्णतया स्थित हो जाती है तो वह स्वभाव ही परमात्म रूप हो जाता है। अब आत्मा ऊपर उठने की बजाय इन्द्रियो के विकारो मे फसती है तथा कर्मों के आवरणो से बधती रहती है तो यह उसके स्वभाव से विपरीत स्थिति होती है। तब वह विभाव में चलती है। विभाव का प्रभाव है तो समझिये स्वभाव का अभाव है। जैसे एक लकडी के टुकडे को यदि पानी मे डालेगे तो वह भीतर डूबेगा नहीं, पानी की सतह पर तैरता रहेगा। यह उसका स्वभाव है। किन्तु उसी लकडी के टुकडे को एक लोहे की पेटी मे बन्द करके पानी में डाले तो वह बजाय तैरने के डूब कर पानी के तले तक चला जायगा। लकडी के टुकडे का

स्वभाव तो तैरने का है लेकिन लोहे के आवरण के कारण वह डूब गया। तो यह डूब जाना उसका विभाव कहलायगा। अब आत्म स्वरूप को लकडी के टुकडे के समान हलुस्वभावी मान ले। यदि वह स्वतत्रचेता बन कर गति करेगी तो उन्नति की ओर ही अग्रसर होगी, बल्कि पूर्ण स्वतत्र हो तो पूर्णतया समुन्नत बन जायगी। किसी आत्मा मे जितना उन्नति का अभाव है, उतना ही उस पर विभाव का प्रभाव है– यह मानना चाहिये। अत आत्मा के मूल स्वभाव को प्राप्त करना है– यही उसका धर्म है।

इस रूप में आत्म धर्म वह हुआ जो उसे स्वभाव में स्थित बनादे। अत जिन सिद्धान्तो, आदर्शो तथा कर्त्तव्यो से आत्मा विभाव मे से निकल कर स्वभाव मे रमण करती जाय, वे सिद्धान्त, आदर्श व कर्त्तव्य उसके लिये धर्म रूप माने जायेगे। यह मूल कसौटी है जिस पर कस कर कर्त्तव्यों आदि का निर्धारण किया जा सकता है।

धर्म को जो निमत्रण देना है, वह अपनी ही आत्म चेतना को निमत्रण देना है क्योंकि यह चेतना पकडे हुए विभाव को जितने अशों में छोडती जायगी, उतने अशो मे यह अपने स्वभाव को ग्रहण करती जायगी तो समझिये कि उस स्वभाव के रूप मे धर्म की ही प्रतिष्ठा हो रही है।

विभाव से स्वभाव की ओर
धर्म की दिशा

धर्म की दिशा है, वही स्वभाव की दिशा है। इस कारण विभाव से स्वभाव की ओर जो गमन करना है, वह धर्म की दिशा मे ही चलना है। इसलिये देखना यह है कि यह आत्मा विभाव मे किस रूप मे चल रही है तथा उसमें कितनी गहरी पैठी हुई है ? इस सर्वेक्षण के बाद ही ज्ञात हो सकेगा कि उसे स्वभाव की ओर गति कराने में विभाव के तत्त्वो से कैसे छुटकारा दिलाना होगा ?

याद रखिये कि जब तक मन-मस्तिष्क मे विभाव जन्य विकार भरे हुए हैं– काम, क्रोध, मद, मतसर, तृष्णा की ज्वालाएँ सुलग रही हैं तो उस स्थान पर स्वभाव कैसे आ सकेगा ? धर्म को भीतर लाने के लिये उसके अनुरूप उस स्थान की शुद्धि करनी जरूरी होगी। जब तक आत्मा विभाव के चक्र मे घूमती रहेगी तो उसे न धर्म की सुधि आवेगी और न ही वह अपनी शुद्धि के काम मे जुट सकेगी। विभाव का प्रभाव बना रहेगा तब तक स्वभाव को प्राप्त करने की लगन भी तीव्र नही बन सकेगी। धर्मनाथ की प्रार्थना के माध्यम से जब इस आत्मा को अपना स्वरूप ज्ञान हो जाता है तथा उसका सकल्प बन जाता है कि वह विभाव

के चक्र को तोडकर स्वभाव की ओर निश्चित रूप से गति करे तब भीतर ही भीतर विभाव और स्वभाव के बीच द्वन्द शुरू हो जाता है। यह द्वन्द जितना स्वभाव के पक्ष मे सफल होता जाता है, विभाव की स्थिति समाप्त होती रहती है। इसे ही धर्म-युद्ध कह सकते हैं जिसमे अधर्म पराजित हो जाता है।

इस द्वन्द में बाहर के वातावरण का पूरा ध्यान नही रखें तो पलडा कभी-कभी विभाव की ओर भी बढ़ने लगता है तब उन्नति से फिर पतन की तरफ गति हो जाती है। जैसे अच्छे भले आदमी को भग पिलादें तो वह भग के नशे में सज्ञाहीन होकर बुरा कार्य कर बैठता है। तो विकारों के प्रति जो आकर्षण बढ जाता है, उसे भग का नशा ही कहिये। ऐसे द्वन्द के समय अधिकाधिक सन्त समागम करे– अध्ययन और चिन्तन करे तो स्वभाव की ओर गति अधिक तीव्र भी बन सकती है।

विभाव की मूल प्रेरणा होती है मोह-ममता और स्वभाव की आत्मा होती है समता। अत समता की साधना के बल से विभाव को शीघ्र समाप्त कर सकते हैं। समभाव आवे, समदृष्टि बने तब समता की साधना सहज बनती है और जब जीवन मे विचार, वचन तथा व्यवहार पर पूर्ण रूप से साम्य भावना छा जावे तो समझना चाहिये कि जीवन समदर्शी बन रहा है। यह समदर्शिता धर्म का उच्चतम दिकास है तो आत्मा की अपने स्वभाव मे श्रेष्ठतम स्थिति। विभाव से हट कर स्वभाव को प्राप्त करे– यही धर्म की दिशा है तथा यही धर्म जिनेश्वर को हिवडे मे बसाने का निमत्रण है।



12

शान्ति की चाह, शान्ति की राह

विश्वसेन नृप, अचला पटरानी
तस कुल सुत सिणगार हो सौभागी।
जनमन शान्ति करी निज देश मे
मिरगी मार निवार हो सौभागी।
शान्ति जिनेश्वर साहिब सोलमा
शान्तिदायक तुम नाम हो सौभागी।
तन मन वचन शुद्ध कर ध्यावता
पूरे सगलो काम हो सौभागी।

शान्तिनाथ भगवान् की प्रार्थना का उच्चारण करने के साथ ही शान्ति का अनुभव होने लगता है। सच तो यह है कि शान्तिनाथ का नाम भी सुनने को मिले तब भी दु ख सन्तप्त आत्मा को कुछ क्षणो के लिये ही सही– शान्ति की अनुभूति होती है तथा सन्तोष मिलता है।

गीष्म ऋतु मे तपती हुई रेत पर अगर कोई नगे पैर चले तो उसे भीषण गर्मी का अनुभव होता है और उसे जोरो की प्यास लगती है। कुछ समय बाद तो उसके प्राण छटपटाने लगते हैं। अगर उस समय उसको शीतल जल का केवल नाम भी सुनने को मिले तो उससे भी उसे तनिक चैन मिलता है। और कही शीतल जल ही उसे पीने को मिल जाय तो बताइये कि वह कितनी और कैसी शान्ति का अनुभव करता है ?

जिसे पानी के लिये तिलमिलाहट है, उसे पानी का नाम भी प्यारा लगता है, वैसे ही दु ख से तडपती हुई आत्माएँ शान्ति चाहती है और शान्ति का शब्द भी उन्हे सुनाई दे तो अन्तर्मन मे बडी प्रसन्नता होती है। ऐसी शान्ति यदि किसी को किसी प्रकार प्राप्त हो जाय तो उसके हृदय के हर्ष का तो कहना ही क्या ?

प्रत्येक आत्मा आन्तरिकता से शान्ति की चाह रखती है

अधिकाश भाई बहिनो के मुह पर शान्तिनाथ प्रभु का नाम बना रहता है। नमस्कार मत्र मुह पर आवे या नहीं आवे– अन्य तीर्थकरों के नाम स्मृति पटल पर उभरे या नही उभरे, लेकिन शान्तिनाथ सबको याद आ जाते हैं। दु खों से छुटकारा पाने के लिये उनके नाम का बार बार स्मरण किया जाता है– शान्तिनाथ जी साता करो, जग का दु ख दारिद्रय हरो। यह रटन लगी रहती है मगर इसका यह अर्थ नहीं कि शान्तिनाथ भगवान् के परमात्मा स्वरूप को पहिचानने का भी इसी लगन के साथ प्रयास किया जाता हो। यदि ऐसा तनिक सा भी प्रयास निष्ठा के साथ किया जाय तो सच्ची शान्ति का रसास्वादन किया जा सकता है।

यह सही है कि प्रत्येक आत्मा अपनी गहरी आन्तरिकता के साथ शान्ति की चाह रखती है। उसे उसके वर्तमान दु खो से छुटकारा मिले तथा स्थायी शान्ति प्राप्त हो– यह सब चाहते हैं। लेकिन जैसा वे चाहते हैं, शायद उसके अनुरूप कार्य नहीं करते हैं और इसी कारण चाहने के उपरान्त भी उनको शान्ति सुलभ नही होती है। चाहना एक बात है, मगर चाह को प्राप्त करने के लिये काम करना दूसरी ही बात होती है। दोनो बातो के बीच में अधिकाशत अज्ञान होता है जिससे जो आप चाह रहे हैं, उसको प्राप्त करने का सही मार्ग नहीं मिलता है। इसलिये शान्ति की चाह तो रख लेते हैं, मगर गलत रास्ते पर चलने से मजिल पर पहुँचना नहीं बनता है। कभी सही रास्ते पर पहुँचने का बाधक तत्त्व अज्ञान हट भी जाता है तो आवश्यक पुरुषार्थ न जुटा पाने के कारण शान्ति का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता है।

दु ख सन्तप्त आत्माओ को शान्ति की कितनी गहरी चाह होती है– इसका सही अनुमान मनुष्य भुक्तभोगी बनकर ही लगा सकता है। शान्तिनाथ भगवान् की आत्मा जब गर्भ मे थी उस समय सारे देश में एक मरी नामकी महामारी चल रही थी। चारों और त्राहि त्राहि मची हुई थी। कई लोग असमय मृत्यु को प्राप्त हो रहे थे तो उनके शोक मे अनेकानेक लोग तन-मन से सन्तपत हो रहे थे। अत्यधिक अशान्ति का वातावरण सब और छाया हुआ था। देश के सम्राट थे महाराजा अश्वसेन और प्रजा के इस दु ख में वे अत्यन्त चिन्तित बने हुए थे कि इस कष्ट का निवारण कैसे किया जाय तथा कैसे प्रजा को शान्ति पहुँचाई जाय ? राज्य-साधनों से जितनी बन पा रही थी, वे प्रजा की सहायता कर रहे

थे, लेकिन वह महामारी मन्द पडने का नाम ही नहीं ले रही थी।

महाराज चिन्तन करने लगे कि अपने राज्य से इस शत्रु को कैसे हटाऊ तथा कैसे अपने प्रजाजनों को शान्ति पहुँचाऊ ? वे प्रजा की हितकामना के चिन्तन मे इस प्रकार डूब गये कि उन्हे पता ही नहीं रहा कि वे कहॉ बैठे हैं, किसके लिये बैठे हैं और क्या कर रहे हैं ? जैसे योगी अपनी योग साधना मे इतने तन्मय हो जाते हैं कि उनको बाहर का कुछ ध्यान ही नहीं रहता है, वैसे महाराज भी तन्मयता से उस समस्या पर सोचने लगे। वस्तुत कोई अपने ध्येय के प्रति जब इस रूप मे एकाकार हो जाता है तब ही समस्या का समाधान भी समक्ष आ जाता है।

शान्ति प्राप्ति की कामना भी गहरी हो जानी चाहिये

शान्ति प्राप्ति का ध्येय हो तो ध्याता उसके लिये ध्यान लगाता है। प्रारम मे तो ध्याता, ध्यान और ध्येय का अलग-अलग अस्तित्व प्रतीत होता है, लेकिन जब ध्येय की कामना गहरी हो जाती है तो तीनो एकाकार हो जाते हैं। ध्याता को ध्येय के सिवाय जब किसी का भी ख्याल नहीं रहता, तब उसका ध्यान एकाग्र हो जाता है। चाहे शान्ति प्राप्ति की कामना हो अथवा परमात्म स्वरूप पर चिन्तन, इस त्रिगुटी के एकाकार हो जाने में ही ध्येय प्राप्ति की सफलता छिपी हुई रहती है। बिखरा हुआ ध्यान केवल ध्येय के स्वरूप मे जब रम कर तल्लीन बन जाता है, तब ध्येय का स्वरूप साकार हो जाता है। जिस समय आत्मा को बाहरी किसी भी वस्तु का ख्याल नहीं रहता और भीतर मे भी ध्येय के सिवाय कुछ भी नहीं दिखाई देता, तब आत्मा की जो गभीर अवस्था होती है, उसे ही समाधि की अवस्था कह सकते हैं। योगी लोग अपने आत्मिक स्वरूप पर चिन्तन करते समय ऐसे ही तन्मय हो जाते हैं। ध्येय जितना ऊँचा हो, इस त्रिगुटी की एकरूपता भी उतनी ही गहरी होनी चाहिये।

महाराज विश्वसेन भी जनहित के ध्येय के प्रति ध्यान मे गहरे डूब गये थे। उस समय निश्चल जीवन वाली अचला महारानी स्वय महाराज को देखने आई क्योकि भोजन का समय हो जाने पर भी महाराज उधर नही पधारे थे। महारानी को भोजन करने की शीघ्र आवश्यकता थी क्योकि उनकी कुक्षि मे एक दिव्य पुरुष का लालन पालन हो रहा था। उन्हे चौदह स्वप्न दिखाई दिये थे, जिसका स्वप्न पाठको ने निर्णय दिया था कि उन्होंने अपने गर्भ में किसी तीर्थंकर या चक्रवर्ती को धारण किया है। ऐसी महान् आत्मा के पोषण का

महारानी को बराबर ध्यान था, किन्तु पतिदेव को भोजन कराये बिना वे स्वय पहले भोजन कैसे कर सकती थी ? इसलिये वे स्वय महाराजा को बुलाने के लिये आई। किसी भी गर्भवती बहिन को बडी तपश्चर्या तो दूर रही, लेकिन उपवास भी नहीं करना चाहिये क्योंकि गर्भस्थ शिशु की उससे अन्तराय लगती है। यहॉ तक कि पर्यूषण के दिनों में कोई गर्भवती बहिन उपवास करती है तो वह भूल करती है। यह जीव दया का भी प्रश्न है। गर्भ में ही नहीं, बालक जब माता के दूध पर निर्वाह करता है तब तक भी माताओ को तपश्चर्या नहीं करनी चाहिये, कारण इसमे दया की दृष्टि भी समाई हुई है।

महारानी सामने आकर खडी हो गई तब भी महाराज को कुछ भी मालूम नही हुआ। वे तो समग्र रूप से अपने ध्येय के प्रति एकाकार हो रहे थे। महारानी ने नम्रता से भोजन का निवेदन किया, तब भी महाराजा का ध्यान नहीं जागा। महारानी ने तब चरण स्पर्श किये और पूछा– महाराज, अब तक भी भोजन का ध्यान कैसे नहीं आया ? ऐसी आपको क्या गभीर चिन्ता हो गई है ? महाराजा ने अपनी चिन्ता का कारण बताते हुए कहा– महारानी, जब तक मैं अपनी प्रजा को शान्ति नही दे पाता हूँ तब तक मैं भोजन नही करना चाहता। महारानी ने कहा आपको ज्ञात है कि मेरे गर्भ मे महापुरुष का पालन हो रहा है और मुझे इस पवित्र कार्य में त्रुटि नहीं करनी चाहिये। लेकिन आपके भोजन किये बिना मैं भोजन कैसे कर सकती हूँ ? ध्यान मग्न महाराज ने कह दिया– मैं इसके लिये तुम्हें आज्ञा देता हूँ। महापुरुष के लालन पालन मे कोई त्रुटि नही होनी चाहिये। तुम जाकर भोजन कर लो। महाराज की एकाग्रता देखकर महारानी ने कुछ नहीं कहा तथा वह वहॉ से अपने कक्ष मे चली गई।

शान्ति प्राप्ति की कामना जितनी गहरी होती जाती है और फैलती जाती है, उतनी ही उसकी प्राप्ति की वेला भी सन्निकट आती जाती है।

शान्ति प्राप्ति के लिये कोई भी त्याग बडा नही होता।

शान्ति प्राप्ति का ध्येय इतना ऊँचा होता है कि उसके लिये किसी भी त्याग को बडा नहीं मानना चाहिये। अपने कक्ष में आकर अचला महारानी भी चिन्तन करने लगी तो उसकी सकल्प शक्ति भी जागृत हो उठी। उसने सोचा– प्रजाहित का जैसा उत्तरदायित्व मेरे पतिदेव पर है तो वैसा ही उत्तरदायित्व मेरे पर भी है और मेरे मन में इस समय जो जागृति तथा त्याग की उत्तम भावना फैल रही है, वह मेरे गर्भ मे रहे हुए महापुरुष का प्रभाव प्रतीत होता है। तो हम

दोनो के उत्तरदायित्व के निर्वाह मे इस महापुरुष का योगदान भी मिलेगा। तब महारानी भी प्रजा के कष्ट निवारण पर चिन्तन करने लगी।

तभी उसके मन में विचार आया कि मैं अभयदान दू– सुपात्र दान दू तथा लोगो को अपने हाथो से शान्ति पहुँचाऊ। शास्त्रकारो ने भी कहा है कि जो अभयदान, सुपात्रदान आदि देते हुए अपने कर्मो को खपाता है, वह श्रेष्ठ भावना की श्रेणियो मे तीर्थकर नामकरण गौत्र का अर्जन करता है। महारानी के हृदय में भी उस समय अधिक से अधिक त्याग करने तथा शुभ कार्यों मे प्रवृत्त होने की उमग भर उठी। वे आश्चर्य करने लगी कि इतना उत्साह और शक्ति प्रवाह पहले उन्होने अपने अन्त करण मे कभी भी महसूस नहीं किया था। इसका स्पष्ट अर्थ है कि यह गर्भस्थ महापुरुष का ही सुप्रभाव है। उन्हे इस दोहले की अनुभूति होने लगी कि मैं चारो ओर शान्ति की स्थापना चाहती हूँ। मेरे पतिदेव अपने प्रण पर दृढ हैं तो मैं भी जब तक प्रजा मे शान्ति नहीं फैल जाय तब तक भोजन नहीं करूगी। महारानी का विश्वास जम गया कि होने वाली इस भव्य सन्तान के प्रभाव से उन दोनों पति पत्नी की प्रतिज्ञा अवश्य पूर्ण होगी।

अचला महारानी तब सकल्पबद्ध होकर पूर्व दिशा की ओर मुह करके बैठ गई तथा पच परमेष्टि को नमस्कार करके चिन्तन करने लगी– भगवन्, आप सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा एव सर्वशक्ति सम्पन्न हैं। आप सब कुछ जानते हैं कि क्या हो रहा है तथा क्या होने वाला है ? मैं तो कुछ जानती नहीं, श्रद्धा के जो सुमन मेरे पास हैं, उन्हे आपको समर्पित करते हुए इतना ही निवेदन करना चाहती हूँ कि चारो ओर प्रजाजन मे फैली हुई घोर अशान्ति समाप्त हो जाय तथा उनके जीवन मे यथावत् शान्ति पुन प्रकट हो जाय। उन्होने अपने गर्भस्थ शिशु को भी सम्बोधित किया– हे दिव्य पुरुष, तुम्हारी दिव्यता का मुझे ज्ञान है। मेरी कामना है कि तुम्हारे प्रभाव से ही यह महामारी शान्त हो जाय और मेरे सारे प्रजाजन शान्ति को प्राप्त करले।

"शान्ति, शान्ति, शान्ति" का गभीर उच्चारण तब महारानी के मुख से फूट पडा। अचला का नाम जैसा अचल था, वैसे ही उसका काम भी अचल होने लगा। दृढ सकल्प के साथ जब ध्येय प्राप्ति की लगन लग जाती है तो फिर मजिल भी दूर नहीं रह जाती है। महाराज और महारानी का दृढ सकल्प एक जूट बन गया और उसके साथ गर्भस्थ महापुरुष का सुप्रभाव जुड गया तो ध्येय प्राप्ति भी साकार बनने लगी। परिणाम यह हुआ कि देखते-देखते महामारी का असर खत्म होने लगा और लोग सुख की सास लेने लगे। सारे देश में शान्ति का सुखद साम्राज्य छा गया।

तब जनसमुदाय राज प्रसाद की ओर बढा कि वह इसके लिये महाराजा और महारानी का धन्यवाद करे। जय जयकार के साथ यह निवेदन किया गया कि अब चारो ओर शान्ति छा गई है, अत वे भोजन ग्रहण कर ले। जनसमुदाय के इस सुखद समाचार से महाराज हर्षित हो उठे। किन्तु उन्हे यह आश्चर्य भी हुआ कि इतनी शीघ्रता से जनता का कष्ट निवारण किस शक्ति के प्रभाव से हो गया ? जनसमुदाय को सहर्ष विदा करके वे महारानी के कक्ष में पहुँचे। देखा कि महारानी ध्यानस्थ बैठी हुई है। उन्होने उत्साह से कहा– महारानी उठो, जनता का कष्ट निवारण हो गया है और शान्ति फैल गई है, किन्तु इतनी शीघ्रता से यह हुआ कैसे ? महारानी मुस्कुरा कर उठी और बोली– यह सब इस गर्भस्थ महापुरुष का प्रताप है, महाराज ! तब दोनो के हर्ष का पारावार नही था। दोनो भोजन करने चले गये।

शान्तिनाथ का जन्म
शान्ति का विस्तार

यथासमय अचला महारानी ने दिव्य पुत्र को जन्म दिया तथा उनके पूर्व प्रताप की दृष्टि से उनका नामकरण शान्तिनाथ के रूप मे किया– याने कि शान्ति के स्वामी। शान्ति की भावना अतीव बलवती होती है तो भीतर बाहर की शान्ति प्राप्त होती है किन्तु शान्ति साधना जब सर्वोत्कृष्ट श्रेणी मे पहुँचती है तभी कोई शान्ति का स्वामी बन सकता है। शान्तिनाथ का जन्म तब हुआ था किन्तु कोई भी भव्य आत्मा अपनी उच्चकोटि की साधना के बल पर कभी भी शान्तिनाथ को जन्म दे सकती है। जहाँ शान्तिनाथ का जन्म होता है, वहाँ शान्ति का विस्तार होता ही है।

आप भी अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे शान्ति का विस्तार चाहते हैं या नहीं ? कहीं अशान्ति को तो पसन्द नही करते ? यदि शान्ति चाहते हैं तो क्या केवल शान्तिनाथ जी का जिह्वा से नाम मात्र ले लेने से आपको शान्ति प्राप्त हो जायगी ? नाम लेना भी अच्छी बात है, किन्तु शान्तिनाथ जी का नाम अन्त करण की गहराई में रमे तथा शान्ति की दृढ चाह बने, तभी शान्ति प्राप्ति की सभावना होगी, क्योंकि भावना जिस रूप में प्रबल बनेगी, उसी रूप मे शान्ति देने वाले शुभ कार्यो मे प्रवृत्ति बढेगी। भावना और कार्य मिल कर तब शान्ति स्थापना का धरातल बना सकेंगे।

पहले परिवार के वातावरण का ही अध्ययन कर ले, क्योंकि उसके उदाहरण से समाज, राष्ट्र तथा विश्व मे शान्ति के प्रयासो की रूपरेखा भी स्पष्ट

हो जायगी। एक व्यक्ति चाहता है कि उसके परिवार में शान्ति व्याप्त रहे तो सबसे पहले उस परिवार के मुखिया को अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियो का इस दृष्टि से सकोच करना पडेगा कि उनकी वजह से परिवार के किसी सदस्य को अशान्ति फैलाने का मौका न मिले। यदि वह मुखिया शान्ति की चाह तो रखे, लेकिन अपने व्यवहार के विषय मे किसी भी प्रकार की सावधानी नही बरते तो क्या मात्र शान्ति की चाह से उस परिवार मे शान्ति बनी रह सकेगी ? भावना के साथ कार्य नही जुडे तो प्रतिफल कैसे पैदा होगा ? अब मुखिया अपनी ओर से सतर्क होकर शान्ति कायम रखने की कोशिश करेगा। उसकी उस कोशिश मे परिवार के अन्य सदस्य सहयोग करले तब तो कोई समस्या सामने नही आयगी। किन्तु कोई सदस्य ऐसा निकले जो शान्ति का उत्तर भी अशान्ति से दे, तब भी मुखिया को अपना धैर्य नही खोना होगा और बिना उत्तेजित हुए अशान्ति पैदा करने वाले सदस्य को भी सौजन्यपूर्ण प्रयासो से शान्ति की राह पर लाना होगा। इस रूप मे मुखिया अपने प्रयासों से प्रारभ करके सबका सहयोग ले कर अपने परिवार में शान्ति स्थापित कर सकता है।

इसी प्रकार समाज, राष्ट्र एव विश्व के नेताओ को पहले शान्ति स्थापना के योग्य अपने को बनाना होगा। वे कूटनीति भी छोडे तथा अपने निहित स्वार्थो का भी त्याग करे– तब काम चलेगा। उनके हृदय में स्वय के लिये शान्ति पैदा हो तथा सारे समाज, राष्ट्र व विश्व के लिये शान्ति प्राप्ति की कामना प्रबल बने, तब शान्ति प्रयासों की कडी चालू हो सकती है। सब तरफ से सहयोग मिले तथा शान्ति प्राप्ति के प्रयास सामूहिक रूप ले ले तो बडे क्षेत्रो में भी दीर्घकालीन शान्ति की स्थापना की जा सकती है।

आप भी शान्ति प्राप्ति की विधि साधिये। जैसे शान्तिनाथ जी के माता पिता ने देश का कल्याण करने के लिये सकल्प लिया था, उसी प्रकार का सकल्प लेकर जो व्यक्ति चलते हैं, उनको अवश्य शान्ति मिलती है। प्रत्येक आत्मा शान्ति चाहती है और उसके लिये शक्ति भर प्रयत्न करती है तो आत्म शक्तियो का भी समुचित विकास हो जाता है।

जहॉ शान्ति की चाह,
वहॉ शान्ति की राह

मैं सकेत देता हूँ कि सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त करने की शक्ति प्रत्येक आत्मा की है जो आप और हम सब मे बैठी हुई है। जब यह आत्मा स्वय के ही स्वरूप को तथा निज गुणो को नहीं पहिचान पाती है तो वह हतोत्साहित तथा

किकर्त्तव्यविमूढ हो जाती है। लेकिन जरा सा भी ज्ञान और विवेक फैला कर देखे तो विदित होगा कि जीवन में ऐसी हताशा नहीं आनी चाहिये, क्योंकि हताशा कार्य करने की शक्ति को ही मन्द बना देती है। वास्तव मे चिन्तन करने की वस्तुस्थिति तो यह है कि जैसी शान्ति प्रसारिणी शक्ति शान्तिनाथ भगवान् की आत्मा मे थी, वैसी ही शक्ति सभी आत्माओ मे विद्यमान है, लेकिन यह आत्मा ऐसी विस्मृत अवस्था में चल रही है कि स्वय की ही शक्ति को नहीं पहिचान पाती है। इसीलिये भीतर भी शान्ति नही है और बाहर भी शान्ति नहीं है।

आज का मानव स्वय अपने आप में उलझता है और भीतर मे अशान्ति की ज्वालाएँ सुलगाता है। जब भीतर अशान्ति होती है तो भला बाहर शान्ति कैसे मिल सकती है ? इसलिये आवश्यकता है कि अशान्ति की पीडा को समझें तथा शान्ति प्राप्त करने की भावना को प्रबल बनावें। जहॉ शान्ति की गहरी चाह होगी, वहॉ शान्ति प्राप्त करने की राह भी जरूर मिल जायगी।

शान्ति वह आन्तरिक भावना है-- मन स्थिति है जो भीतर की सहनशक्ति, धैर्यशीलता तथा गभीरता के धरातल पर निर्मित होती है। शान्ति का विस्तार होता है तो विकारो का तनाव ढीला पड जाता है और विवेक समुन्नत बन जाता है। मन मे शान्ति बस जाती है तो सारे जीवन में शान्ति रम जाती है और आनन्द फैल जाता है।



13

बबूल बोने से आम कैसे मिलेगा ?

शान्ति जिनेश्वर साहिब सोलमा
शान्तिदायक तुम नाम हो सौभागी।
तन मन वचन शुद्ध कर ध्यावतो
पूरे सगला काम हो सौभागी।

शान्तिनाथ परमात्मा के चरणो मे प्रार्थना की पक्तियो का उच्चारण करते ही शान्ति की आवश्यकता मुखर हो उठती है। वास्तव मे इस तापतप्त आत्मा को शान्ति की अत्यधिक आवश्यकता है। इसको शान्ति की बडी जबरदस्त भूख है क्योंकि शान्ति इस आत्मा का मूल स्वभाव है और स्वभाव की जहाँ पर पूर्ति होती है, वहाँ आन्तरिक आनन्द की हिलोरें उठने लगती हैं।

हकीकत है कि बबूल बोने से काटें मिलेगे तथा आम का वृक्ष बोओगे तो आम के फल पा सकोगे। बबूल बोने से आम कैसे मिलेगा ? अभिलाषा तो शान्ति की बनाओ लेकिन काम अशान्ति के करो तो भला शान्ति कहाँ से मिलेगी ?

शान्ति की खोज किन पदार्थो के सयोग मे की जा रही है ?

आज मानव शान्ति पाने के लिये लालायित भी है तथा वह शान्ति की खोज भी कर रहा है, लेकिन देखना यही है कि वह किन पदार्थो का सयोग जुटा कर उनसे शान्ति प्राप्त करने की आशा लगा रहा है ?

मानव सुख पाने और सुख से शान्ति पाने के लिये योग्य पदार्थो का सयोग जुटाता है। मन मे जिस कदर भोग की लालसा समाई हुई है, वह सोचता है कि वह उन लालसाओं की पूर्ति के लिये उपयुक्त साधन अर्जित करले और उनकी पूर्ति करले तो उस को सुख मिलेगा तथा उस सुख से उसको शान्ति

मिल जायगी। वह जानता है कि इन्द्रियो के सुख साधन जुटाने के लिये धन की आवश्यकता होती है, इसलिये वह नीति-अनीति का विचार छोड कर किसी भी रीति से अधिक से अधिक धन अर्जन करना चाहता है। धन अर्जन करना भी आसान नही होता है। आप अधिक जानते हैं कि इसके लिये क्या-क्या अकरणीय नहीं करना पडता है तथा उसके बावजूद भी कितनी कामयाबी मिलती है ? इस प्रक्रिया मे कितनी अशान्ति के बीच मे से होकर गुजरना पडता है-- इसका भी कोई हिसाब नही। लेकिन फिर भी वह बबूल बोता है इस आशा मे कि उसके फल जाने पर उसके आम्रफल लगेंगे।

धन जुटाकर फिर योग्य पदार्थो का सयोग जुटाया जाता है। वह बढिया से बढिया खाना खाकर रसना को तृप्त करना चाहता है, सुन्दर से सुन्दर रूप देखकर नेत्रो को सुख पहुँचाता है, सगीत की मधुर लहरियों मे डूब कर कानों को निहाल करता है, नासिका को सुगध से भरपूर बना देता है तो स्पर्श-सुख की अनेकानेक सुविधाएँ जुटाता है और महसूस करने की चेष्टा करता है कि वह सुखी है तथा सुखी है तो शान्ति जरूर पा लेगा।

मन तथा पाचो इन्द्रियो के विषयो को मन भरके भोग लेता है, तब भी क्या उसका मन भरता है ? सुख और शान्ति पाने की लालसा से यह आत्मा अनादि काल से इन जड पदार्थो का सयोग जुटाने मे पच रही है एव पदार्थो को ग्रहण कर रही है। फिर भी उसे शान्ति नहीं मिलती है-- इस यथार्थ पर खेद का विषय यही है कि न तो वह गभीर चिन्तन करती है और न ही अपनी शान्ति की खोज की दिशा ही बदलती है।

अशान्ति के साधनो से अशान्ति ही बढती है।

अनुभव की गहराइयों मे उतर कर यह ज्ञान लेने की जरूरत है कि अशान्ति के साधनो से अशान्ति ही बढती है और ये जितने योग्य पदार्थो के साधन हैं, ये अर्जन मे भी अशान्ति बढाते हैं तो वास्तव मे भोग मे भी अशान्ति ही बढाते हैं। प्राथमिक स्तरो पर मनुष्य को ऐसा लगता है कि जब इन योग्य पदार्थों का साधन जुटता है तो उनसे सुख मिलता है। लेकिन ऐसा आभास क्षणिक ही होता है। इसीलिये ऐसे अनुभव को सुखाभास कहा है और उसके बाद तो वही भोग दु ख का कारण बन जाता है।

कल्पना करे कि एक व्यक्ति को मूग की दाल का हलुआ बहुत ही पसन्द है। उसने बढिया हलुआ बनवाया तथा खाना शुरू किया। प्रथम ग्रास मे उसे

बडा सुख मालूम हुआ कि उसका मनपसन्द स्वादिष्ट हलुआ उसको खाने को मिला। जहॉ तक ठीक रुचि रहती है, वह हलुआ खाता जाता है और उसमे सुख मानता है। रुचि निरन्तर घटती जाती है मगर तृष्णा मानती नहीं है। वह हलुआ खाता जाता है। फिर नतीजा क्या आता है ? अपच हो जाता है, पेट दुखता है, भद्दी डकारे आती हैं और उल्टिया होने लगती है। तो बताइये हलुआ खाने से सुख हुआ, शान्ति मिली या अशान्ति पैदा हुई ? अगर अन्त में अशान्ति ही पैदा हुई तो मानिये कि वह पदार्थ मूल मे अशान्ति पैदा करने वाला ही है।

ससार के भोग्य पदार्थ जड होते हैं। इनका स्वभाव जड का स्वभाव होता है जो सडन गलन पूर्ण होता है। फिर इन पदार्थों का बाहरी आकर्षण ऐसा होता है कि मनुष्य के मन मे इनके लिये लोभ पैदा हो जाता है और लोभ तृष्णा और वितृष्णा मे भयकर रूप लेता रहता है। अत इन योग्य पदार्थों का अन्तिम परिणाम सदैव दु खमय ही रहता है। अन्त जिसका दु खमय है, मान लीजिये कि उस दु ख का बीज प्रारम में भी विद्यमान ही रहता है। इस तरह प्रारम मे जो सुखानुभव होता है वह झूठा होता है। ऐसे पदार्थ तो वास्तव में प्रारम से अन्त तक दु ख और अशान्ति बढाने वाले ही होते हैं।

आत्माएँ इन पदार्थों को ग्रहण करती हुई एव इनका योग करती हुई दु ख और अशान्ति प्राप्त करती है, फिर भी झूठे अनुभवो के वशीभूत होकर वह इन पदार्थों की वास्तविकता को समझने की चेष्टा नहीं करती है। वे यह नहीं सोच पाती है कि सुख और शान्ति किससे मिलने वाली है ? यदि इन पदार्थों से शान्ति मिल जाती तो क्या ससार में कोई भी प्राणी एकदम अशान्त रहता ? कारण, जितनी भी आत्माएँ है, उनमे से प्रत्येक को ये पदार्थ न्यूनाधिक मात्रा मे तो मिल ही रहे हैं। यह स्थिति अवश्य है कि किसी को कम मिल रहे हैं, किसी को ज्यादा मिल रहे हैं, मगर मिल अवश्य रहे हैं। जिनको कम मिल रहे हैं, उनको कम शान्ति मिले और जिनको ज्यादा मिल रहे हैं, उनको ज्यादा शान्ति मिले, लेकिन, अगर इन पदार्थों से शान्ति मिलती है तो कम ज्यादा शान्ति सभी को मिलनी चाहिये। परन्तु ऐसी अवस्था दीखती नहीं है। दीखता तो यह है कि जिनको ये साधन कम अशों मे मिले हुए हैं और उनमे यत्किचित् सन्तोष की मात्रा आ गई है, वे तो फिर भी सुखी है और शान्ति से रहते हैं। लेकिन जिनको ये पदार्थ बहुतायत से मिले हुए हैं, उनकी हाय-हाय तो रात दिन चलती ही रहती है– शान्ति एक पल को भी उनके पास नहीं फटकती। जितने अधिकाधिक पदार्थों की प्राप्ति होती है, उसी परिमाण में उनके लिये अधिकाधिक अशान्ति बढती जाती है। सच पूछो तो सैंकडो की पूजी वाले को उतनी अशान्ति नहीं,

जितनी हजारो की पूजी वालो को है, क्योकि जितनी अधिक पूजी, उतनी ही अधिक तृष्णा तथा हजारो की पूजी वाला, लाखो की और करोडों की पूजी वाला बन जाना चाहता है।

जिसको हजारो की भी पूजी मिली हुई है, उसके पास भला पाचों इन्द्रियों के सुख साधनो की क्या कमी है ? फिर लाखों और करोडो की पूजी वह क्यों चाहता है ? और जितना चाहता है, उतना मिल जाने पर भी क्या उसको शान्ति मिलती है ? ऐसा क्यो है ?

मनुष्य जर्जर होता है, तृष्णा कभी जर्जर नही होती

आपको देखने का अवसर मिला होगा कि कई अज्ञानी मनुष्य अपने जीवन के दु खों से घबरा कर कुछ समय के लिये सुख और शान्ति पाने के लिये मदिरा पीना शुरू करते हैं। वे समझते है कि जब तक मदिरा के असर से बेभान स्थिति रहेगी, तब तक तो उन्हे उन दु खो का अनुभव नहीं होगा तथा उन्हे उस समय के लिये तो शान्ति मिलेगी। शराब का चस्का रूकता नहीं है, तृष्णा बढती जाती है और दिन प्रतिदिन उसकी शराब पीने की मात्रा बढती जाती है। आपने ऐसी दुर्दशा भी देखी होगी कि कई लोग शराब के इतने शौकीन हो जाते हैं कि रात दिन बोतल लिये बैठे रहते हैं और चौबीसो घटे नशे में धुत् रहते हैं। कई मजदूर वगैरा तो सडक की नालियो मे पडे मिलते हैं और कुत्ते उनका मुह चाटते हुए दिखाई देते हैं। धीरे-धीरे वे जर्जर हो जाते हैं, उनका परिवार नष्ट भ्रष्ट हो जाता है, लेकिन शराब पीने की उनकी लालसा जर्जर नहीं होती– वह तो अशक्त हो जाने के बावजूद भी बढती ही जाती है।

जैसा मदिरा का प्रभाव होता है, वैसा ही ससार के इन योग्य पदार्थो का भी मादक प्रभाव होता है। शराब वह शान्ति पाने के लिये पीनी शुरू करता है, मगर उसकी शान्ति की क्या दुर्गति बनती है– यह आप रात दिन देखते हैं। हो सकता है कि ऐसे किसी शराबी की हालत देखकर आप तरस भी खाते होगे, मगर गहराई से अपने भीतर झाककर देखे तो अपनी दुर्दशा क्या उस शराबी से कम है ? क्या जर्जर वृद्धावस्था आ जाने पर भी तृष्णा जर्जर बनती है या नित नवीन रीति से भडकती रहती है ? फिर शान्ति की चाह रखने पर भी क्या आपको शान्ति मिल सकेगी ?

आपको सच्चे हृदय से बोलने को कहा जाय तो आप भी कहेगे कि इतना सारा वैभव अपने पास होने के बाद भी आपको शान्ति नही है। रात दिन चिन्ता

और तृष्णा पीछे पडी रहती है और एक पल के लिये भी चैन नही लेने देती है। वास्तव मे मनुष्य का शरीर जर्जर हो जाता है– अगोपाग ढीले पड जाते हैं, मगर उसकी तृष्णा कभी जर्जर नहीं होती– उसकी वासनाएँ और कामनाएँ ठडी नहीं पडती । यह तृष्णा परम दु खदाई है तथा उसके साथ ये सारे पदार्थ दु ख और अशान्ति देने वाले हैं।

सुख और शान्ति के विषय मे भ्रान्त धारणाएँ

अमेरिका के सबसे बडे धनवान पुरुष से पूछिये जो शायद फोर्ड है या कौन है– कि तुम अमेरिका के ही नहीं, ससार के सबसे अधिक धनाढ्य हो, विशाल अट्टालिकाओं में रहते हो, अपार वैभव के स्वामी हो, तुम्हारे यहाँ सुन्दर से सुन्दर भोग्य पदार्थो का अम्बार लगा हुआ है– बोलो, भाई तुम्हारे को तो कोई दु ख नहीं है ? तुम्हें तो पूर्ण शान्ति का अनुभव होता है ? क्या कहेगा वह ? अरे, भाई कहाँ शान्ति है– यहाँ तो हजारो हजार प्रपच लगे हुए हैं, एक पल को भी शान्ति नही मिलती है बल्कि मानसिक तनाव इतना बढा रहता है कि अशान्ति ही अशान्ति दिखाई देती है।

सोचिये, फिर शान्ति कहाँ है ? आप सारा उल्टा सीधा करके दुनिया भर का जोर लगाओगे तो चन्द चादी के टुकडे जमा कर लोगे और अपनी छाती फुलाए फिरोगे कि आप बडे धनाढ्य पुरुष हैं। अरे, लेकिन असलियत क्या है– इस पर भी कभी गहराई से विचार करते हो ? ससार का सबसे बडा धनाढ्य पुरुष भी अशान्त है तो आपका थोडा सा धन आपको शान्ति कहा से दे देगा ?

एक भूखे आदमी को कोई मिट्टी का ढेला खाने को दे तो क्या वह उसे खा सकेगा और क्या उस से उसकी भूख मिट सकेगी ? एक प्यासे आदमी को कोई समुद्र का खारा पानी पीने को दे तो क्या उसे वह पी सकेगा और क्या उससे उसकी प्यास मिट सकेगी ? रोटी से भूख मिटेगी तथा शीतल मिष्ट जल से प्यास तृप्त होगी। वैसे ही इस आत्मा की भूख और प्यास ससार के इन योग्य पदार्थो से मिटने वाली नहीं है। वह चाहे इस कान से सुने या उस कान से सुने, आज सुने या कल सुने अथवा कभी सुने ही नही, किन्तु जब तक मनुष्य इन नाशवान पदार्थो से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं करेगा, तब तक उसको वास्तविक शान्ति मिलने वाली नही है। क्षणिक सुखाभास से अस्थायी शान्ति का अनुभव कर भी लिया तो उससे होने वाला क्या है ? तलवार की धार पर शहद लगाकर वह शहद को चाटेगा तो उसकी जीभ कट जायगी। अब वह जीभ

कटने को भूल कर शहद के मिठास से मजा लेने की बात कहे तो उसकी मूर्खता पर हसी ही आ सकती है। शहद के स्वाद से शान्ति मिलने की बात कहे और कटी हुई जीभ का ध्यान न रहे तो उस शान्ति को कैसी शान्ति कहना ? बेचारी मच्छिया आटे के लोभ मे जाल का काटा पकडती है तो आटा तो मिलता नहीं, काटा उसके मुह मे फस जाता है– उसकी भूख तो मिटती नहीं, उसकी जिन्दगी मिट जाती है।

तो सुख और शान्ति के विषय मे लोगो के मन मे बडी भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इन भ्रान्त धारणाओ के वशीभूत होकर वे वहॉ-वहॉ शान्ति की खोज करते हैं, जहॉ अशान्ति भरी पडी है और जहॉ शान्ति की झलक मिल सकती है, उस दिशा मे उनके कदम बढते नही हैं। सुख और शान्ति के वास्तविक स्वरूप पर गभीर चिन्तन ही इस विडम्बना को समाप्त कर सकता है।

हिरण की कस्तूरी कहॉ होती है और उसे वह ढूढता कहॉ है ?

आप जानते होंगे कि कस्तूरी एक मूल्यवान तथा अतीव सुगधित पदार्थ होता है जो हिरण की नाभि से मिलता है। ऐसे हिरण कस्तूरी मृग कहलाते हैं। कस्तूरी उनकी नाभि मे होती है, लेकिन इस तथ्य का उनको भान नहीं होता है। उनको अपनी ही नाभि से कस्तूरी की सुगध आती है और वे समझते नही हैं कि यह सुगध कहॉ से आ रही है ? सुगध की खोज मे तब वे इधर-उधर भागते हैं– बेतहाशा भागते हैं, लहू लुहान हो जाते हैं और कई बार प्राण त्याग देते हैं। उन की इस सुगध की खोज को क्या कहेगे ? कहेगे, महाराज, अज्ञानी जीव है, सुगध तो उन्हीं के पास थी और अज्ञान मे उसकी खोज मे भटकते रहे तथा बिना सुगध पाये ही प्राण त्याग कर गये। हिरण तो अज्ञानी जीव हैं, लेकिन स्वय क्या हैं ? शान्ति अपने ही भीतर है, लेकिन क्या उसकी खोज ससार भर के पदार्थो मे नही की जा रही है ? और नतीजा भी क्या हिरण जैसा ही नही हो रहा है ? फिर भी चेतना कहॉ जागती है ? अपने अज्ञान को वह कहॉ धिक्कारती है ?

प्रभु शान्तिनाथ के जीवन के विषय मे मैंने उल्लेख किया है कि गर्भ में रहते हुए भी उनकी अमोघ शान्ति के प्रभाव से सारे देश में शान्ति स्थापित हो गई। जन्म के बाद वे महान् वैभव के धनी बने छ खड का चक्रवर्ती पद उन्होने प्राप्त किया, फिर भी उन्होंने देख लिया कि उस बडे से बडे वैभव में भी शान्ति का निवास नहीं है– वह शान्ति तो अन्तरात्मा मे ही विराजमान है। अत उन्होने

नाक के श्लेष्म की तरह चक्रवर्ती के सम्पूर्ण वैभव का परित्याग कर दिया। फिर वे समभाव की साधना मे साधु बन गये। याद रखिये, समभाव की साधना मे ही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकेगी और समभाव की साधना सिद्ध कर ली तो आप भी शान्तिनाथ बन सकते हैं।

आम का वृक्ष लगायेगे तो आम अवश्य मिलेगा।

जीवन मे आम का वृक्ष लगाने का मतलब है साधु अवस्था को अगीकार करना। साधु-जीवन आत्म-कल्याण का अति महत्त्वपूर्ण साधन है। साधु के पाच महाव्रत मैरु पर्वत से भी अधिक भारी माने गये हैं। मैरु पर्वत को उठाना सहज है, पर पच महाव्रत के भार को धारण करके समभाव की साधना के साथ चलना अति ही कठिन है। तलवार की धार पर चलने से भी साधु धर्म का सम्यक् निर्वाह अधिक कठिन है। वह कठिनता बाहरी कष्ट उठाने तक ही सीमित नहीं है। कडकडाती धूप में चल लेना सहज है, बारह प्रकार के तपों मे से बाह्य तप की दृष्टि से मास मासखमण का पारण करना और शरीर को डठल की तरह सुखा देना भी सहज है। किन्तु कठिनतम कार्य यह है कि अन्त करण के राग द्वेष को सुखाया जाय, काम, क्रोध की ज्वालाओ का शमन किया जाय तथा ऋृजुता व मृदुता को जीवन में उतारा जाय।

भावनात्मक एव क्रियात्मक पक्षों का विश्लेषण करते हुए यह समझ ले कि क्रोध के भयकर रूप का जब तक शमन नहीं कर पावें और मास मासखमण की तपस्या भी करे तो भी आत्मकल्याण के कार्य मे वाछित सफलता नहीं मिल सकेगी। शास्त्रकारों ने कहा है कि कोई तीस दिन तक केवल गर्म पानी के आधार पर रहे तथा इगतीसवें दिन एक डाम के अग्रभाग की अणी पर आवे उतने से अन्न को पारणे मे लेवे एव पुन तीस दिन की तपस्या ग्रहण कर ले और यह क्रम चलाता रहे किन्तु भगवान् की आज्ञाओ के अनुसार अपने जीवन का क्रम नहीं चलाता हो तो मोक्ष मार्ग का दृष्टि से उसकी वह कठोरतम करणी प्रभु की आज्ञाओ के अनुसार चलने वाले साधक की तुलना मे सोलहवीं कला मे भी नही पहुँचती है। भगवान् की आज्ञा मे निर्दोष भाव से चलने वाला पुरुष भले ही अपनी शारीरिक अशक्ति या अन्य कारण से उपवास, बेला, तेला आदि तपस्या नहीं कर सके, किन्तु आन्तरिक क्रोध मान माया लोभ आदि विकारों को जीतना हुआ एव आभ्यन्तर तप की साधना करता हुआ उच्च कोटि का विकास सम्पादित कर सकता है।

शास्त्रकारो ने इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त दिया है। एक गुरु महाराज के पास एक ऐसा शिष्य था, जिसने बहुत बडी तपस्या की जिससे उसका शरीर इतना अशक्त बन गया कि उठना बैठना भी कठिन हो गया। उस का शरीर हड्डियो का ढाचा बन गया। चेले को अहकार हो आया कि उसके समान अन्य कौन तपस्वी हो सकता है ? बाहर के तपस्वी ढाचे मे अहकार का जहर घुलकर सब तपस्या को जहरीली बना रहा है– इसको भान ही नहीं था। अपना अन्तिम समय जानकर उसने अपने गुरु से सथारा पच्चक्खाने को आदेश के स्वर में कहा। गुरु उसके मनोभावो से परिचित थे, बोले– अभी तुम्हारे सथारे का समय नही आया है। अभी तप की कमी है, और तप करो। यह सुनकर चेला भभक उठा– मेरे बराबर कोई तप करने वाला है तो मुझे और तप करने को कहते हो। फिर भी गुरु ने शान्त भाव से कहा– और तप करो। गुरु की शान्ति का चेले पर असर पडा और वह फिर तप करने लगा। कुछ समय बाद गुरु से सथारा कराने की बात कही तो गुरु ने और तप करने को कहा। यह क्रम तीन बार चला, फिर भी गुरु ने और तप करने को कहा तो चेला आग बबूला हो गया। उसने अपनी एक अगुली मरोड कर तोड डाली और बताई कि शरीर मे खून का कण तक नहीं रह गया है और आप फिर तप करने की बात करते हैं। तब गुरु ने कहा– चेले, तुमको मेरे कहने पर उतना क्रोध आया कि अपनी अगुली ही तोड डाली। अब बताओ, शरीर सुखा लिया उससे क्या हुआ ? क्रोध का विकार तो इस तरह उबल रहा है, फिर सथारा कैसे दिलादू ? समभाव धारण हो जावे तभी समझना कि तप पूरा हो गया है। तब चेले को अपनी वास्तविकता का भान हुआ।

ध्यान रखिये कि बबूल पर कितने ही रेशमी कपडे बाध दे, लेकिन उसमें से तो काटे ही निकलेंगे और आम का वृक्ष बोएगे तथा साधु जीवन की जडों को मजबूत बनायेगे तो मीठे आम जरूर मिलेगे।

समभाव की साधना से सच्चा सुख और शान्ति

यदि मनुष्य के विचार, वचन तथा कार्यों मे समभाव का समावेश हो जाय तो उसे ऐसा सुख और ऐसी शान्ति मिलेगी जिसका रूप स्थायी एव वास्तविक होगा। समभाव, समदृष्टि एव समता की जो निरन्तर साधना है, वही साधु-धर्म है। शास्त्रकारों ने साधु जीवन की प्रत्येक मर्यादा का विस्तार से अकन किया

है– वह क्या खावे, कैसे खावे, कैसे चले, सोये बैठे, किस विवेक से प्रासुक पदार्थ ग्रहण करे आदि। बाहर के इस विवेक के साथ विवेक की कठिन जिम्मेदारी भीतर है कि किस प्रकार विषय कषायो के अन्तर्शत्रुओं से सफल सघर्ष करे एव आत्म स्वरूप को उज्ज्वल बनावे ? त्याग के दो दृष्टिकोण हैं– एक तो बाह्य सम्पत्ति धन परिवार आदि का त्याग तथा दूसरा राग द्वेष काम क्रोध मोह माया का परित्याग। एक पदार्थात्मक तो दूसरा भावात्मक त्याग है और इसलिये दूसरा त्याग अधिक कठिन और अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

यह सब समभाव की साधना है और यही साधना सच्चे सुख तथा सच्ची शान्ति की प्रदायक होती है।



14

पवित्रता : विचार, वचन और व्यवहार की

शान्ति जिनेश्वर साहिब सोलमा,
शान्तिदायक तुम नाम हो सौभागी।

शान्तिनाथ भगवान् की प्रार्थना से शान्ति प्राप्त होती है। जहाँ-जहॉ अशान्ति है, वहॉ-वहॉ शान्ति की नितान्त आवश्यकता है। इसलिये सच्ची शान्ति की खोज मे पग अवश्य बढने चाहिये।

मानव जीवन के तीन द्वार दो धाराऍ

मानव जीवन के तीन प्रमुख द्वार हैं। ये तीन श्रोत ऐसे हैं जिनसे दो तरह की धाराऍ निकलती हैं। एक निर्मल शीतल जल की धारा होती है शान्ति की तो दूसरी अशान्ति की धारा गटर के पानी की गन्दली धारा होती है। जिस मानव के जीवन में शान्ति का अवस्थान नहीं है, जिसके अन्त करण में शान्त सुखद प्रवाह प्रवाहित नही होता, बल्कि जिसके मन मे काम क्रोध और राग द्वेष की ज्वालाऍ सुलगती है, उसका जीवन घोरतम अशान्ति मे तडपता है। यही अशान्ति वाणी के द्वारा बाहर फूटती है और काया मे परिणित होकर अपने चारों तरफ के वातावरण को सन्तप्त बना देती है।

मन, वचन एव काया के तीनो द्वारो में मन का द्वार सबसे बडा द्वार होता है। यह द्वार पहले क्रम पर भी है, क्योंकि जीवन मे किसी भी तत्त्व का प्रवेश पहले इसी द्वार से होता है। वाणी का द्वार दूसरे क्रम पर है तो तीसरे क्रम पर काया का द्वार है। इन तीनो द्वारो मे से दोनो प्रकार की धाराऍ प्रवाहित होती रहती हैं। यदि मन मे अशान्ति अधिक हुई तो मन में कलुषितता, कटुता तथा

कुत्सितता के भावों का बोलबाला रहेगा और ऐसी अपवित्रता जब मन के द्वार से फूटेगी तो फिर बाकी दोनो द्वार भी अपवित्र हुए बिना नहीं रहेगे।

मन की अपवित्रता से तीनो द्वार अपवित्र बन जाते हैं। जब दूषित भावनाएँ मन को रौंद कर वहाँ अशान्ति पैदा करती हैं तो वे ही दूषित भावनाएँ वाणी को कर्कश एव मलिन बना देती है। जो अशान्ति तब तक मन ही मे थी, वह वाणी से फूट कर न सिर्फ बोलने वाले को ही अशान्त बनाती है बल्कि सुनने वालो को भी अशान्त बना देती है। वे ही दूषित भावनाएँ वाणी से वातावरण को विकृत बनाती हुई जब शरीर की विभिन्न प्रवृत्तियो द्वारा आक्रामक एव घातक रूप में कार्यरत होती हैं तो उन अशुभ कार्यो के द्वारा कितने बडे समूह का कितना बडा अहित किया जा सकता है– यह कह नही सकते। इस तरह मन से उठने वाली दुर्भावना जब वाणी और कार्य के माध्यम से क्रियाशील रूप लेती है तो वह न सिर्फ सम्बन्धित व्यक्ति के चरित्र पर ही बुरा असर डालती है, बल्कि सारे समाज और राष्ट्र की शान्ति व्यवस्था को भी प्रभावित करती है।

इसके विपरीत जब मन मे पवित्रता का झरना झरता हो और शान्ति की मधुरता उसमे घुली हुई हो तो वह पवित्रता और मधुरता जब वाणी मे उतरती है तो वह साधारण नहीं, देववाणी हो जाती है– ऐसा लगता है जैसे अमृत की धारा बह रही हो। वही अमृत जब काया के अणु-अणु मे व्याप्त हो जाता है तो उसके जीवन में सबको मत्र मुग्ध करने वाली अमृत वर्षा होती रहती है।

द्वारो की क्रियाशीलता तथा धारा की पवित्रता

मन, वचन, और काया के द्वार तो क्रियाशील बने ही रहते हैं, क्योकि इनकी क्रियाशीलता मे ही जीवन के अस्तित्व का आभास होता है। द्वारो की क्रियाशीलता में धारा की पवित्रता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय– यह बहुत जरूरी है।

शान्ति और अशान्ति की– पवित्रता और अपवित्रता की दोनो प्रकार की धाराएँ मनुष्य जीवन के इन तीनों द्वारो से ही प्रकट होती हैं। इन धाराओ की अपरिपक्वता का एव परिपक्वता का अनुमान इस विश्लेषण से लगाया जा सकता है कि यदि एक प्रकार की धारा मनुष्य के मन मे बही और मन की सीमा तक ही सीमित बनी रही तो यह मानना होगा कि वह धारा अस्थायी है तथा उसमें परिपक्वता पैदा नही हुई है। समझिये कि वह धारा मन की सीमा पार करके वाणी की सीमा मे पहुँच गई तो कहना होगा कि वह परिपक्व बनने लगी

है। किन्तु उसके बाद यदि वह धारा काया के कर्मक्षेत्र मे प्रविष्ठ हो गई और अपने कार्यान्वित रूप के दृश्य दिखाने लगी तो उस में परिपक्वता आ गई है– यह निर्णय देना पडेगा।

यह द्वारो की क्रियाशीलता की अवस्था दोनो प्रकार की धाराओ की दशा मे एक सी रहती है। जो भी धारा इस रूप मे एक दो या तीनो द्वारो से प्रवाहित होगी, उसकी अपरिपक्वता अथवा परिपक्वता का यही विश्लेषण सामने आवेगा।

इस मानव जीवन को यदि भव्य बनाना है, इस लोक में भी पवित्रता एव शान्ति से रहना है तथा परलोक मे भी परम शान्ति का वरण करना है तो पवित्र धारा के प्रवाह से तीनो द्वारों को क्रियाशील बनाये रखना चाहिये। हमारे जीवन मे शान्तिनाथ भगवान् का प्रवेश मन, वचन और काया के तीनो द्वारो से कराना चाहिये ताकि इन तीनो स्रोतों से अपने जीवन मे और अपने जीवन से समाज, राष्ट्र तथा विश्व के जीवन मे पवित्रता एव शान्ति का प्रवाह प्रवाहित होता रहे।

पवित्रता कैसे आवेगी ?
कोरी प्रार्थना से या आत्मीय भावना से ?

जीवन मे समग्र रूप से पवित्रता का सचार कैसे हो सकेगा ? क्या कोरी प्रार्थना के उच्चारण से ही पवित्रता आ जावेगी अथवा उसके साथ अपनी आत्मीय भावना का बल भी जोडना पडेगा ?

सोचे कि भगवान् को हम किस भावना से– किस दृष्टि से याद करते हैं ? क्या हम यह प्रार्थना करे कि हे भगवान् आप हमारे मन के अध्यक्ष बन जावे तथा सबसे पहले हमारी मानसिक प्रवृत्तियो को पवित्र बनादे ? भगवान् स्वय तो आते नहीं और हमारे विषय मे कुछ करते नहीं। यह तो हमारी प्रेरणा जागनी चाहिये जो उनके पवित्रतम स्वरूप को समझे तथा उस स्वरूप को आदर्श मानकर अपने आत्म स्वरूप को उज्ज्वल बनाने का उत्साह भरे। परमात्मस्वरूप तथा आत्मीय भावना का जब तालमेल बैठेगा तो अनादिकालीन वासनाएँ समाहित होकर निर्विकार दशा की अनुभूति उत्पन्न होगी एव मन के विशाल व व्यापक बनने से जगत् के समस्त प्राणियो को आत्मीय भावना से एकीभूत होकर देखने का प्रयास किया जायगा।

आत्मीय भावना का सर्वोपरि महत्त्व माना गया है। आत्मीय भावना का अभिप्राय है कि अपने मन मे समस्त प्राणियो के लिये अपनी ही आत्मा के समान भावना पैदा हो जाय अर्थात् जैसा अपने को प्रिय लगता है, वैसा ही विचार सभी आत्माओं के लिये रखा जाय। जब आत्मीय समानता का धरातल बन जायगा तो

वचन और व्यवहार के माध्यमो से भी अन्य प्राणियो के साथ वही बोला जायगा और किया जायगा, जैसा अपनी आत्मा को प्रिय लगता है। इसका यह अर्थ हुआ कि जब आत्मीय समानता की भावना पुष्ट बन जाती है तो वह आत्मा अपने विचार, वचन और व्यवहार मे ऐसा कुछ भी नहीं लाती जो अन्य प्राणियो को अप्रिय लगता हो।

यदि तीनों द्वारो की ऐसी क्रियाशीलता बन जाय कि किसी भी प्राणी के साथ मन, वचन या काया से किसी भी रूप मे अप्रिय व्यवहार नहीं किया जायगा तो समझिये कि उस जीवन मे पवित्रता की धारा बह निकली है। उस धारा मे अवगाहन करके मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। सकुचितता तथा तुच्छता मन से निकल गई और उसमे उदारता एव विशालता समा गई तो वैसा मनुष्य अपने परिवार को शान्ति दे सकेगा क्योंकि वह स्वय शान्ति पा लेगा। परिवार की शान्ति समाज, राष्ट्र एव विश्व की शान्ति सरिता मे सम्मिलित होकर शान्ति का अजस्र प्रवाह प्रवाहित कर सकेगी। वह जीवन चला भी जायगा तब भी उसकी पवित्रता और शान्ति की सुगध दीर्घकाल तक महकती रहेगी।

पवित्र आत्मीय भावना से पीडित मानवता का उद्धार

जिन आत्माओं ने दूसरों के प्रति कलुषित भावना रखी तथा वचन एव व्यवहार से कलुष फैलाया ऐसी आत्माओ ने ही राग द्वेष मे रग कर तथा क्रूरता फैला कर आत्मीय भाव से विहीन बन अपने ही भाइयों तथा साथियो को समानता से नीचे गिराया और पद दलित बनाया। इस व्यवहार से वे भाई पिछड गये सस्कार में भी पिछडे तथा सम्पत्ति मे भी पिछडे और लगातार सभी तरह से पिछडते गये तो उनका जीवन पीडा से भर उठा। सत्सस्कारों से गिर कर वे मास मदिरा के सेवन करने वाले बन गये और सस्कृति मे भी पीछे रह गये। सस्कारो से गिरे तो सामाजिक प्रतिष्ठा से भी गिर गये और श्रीहीन भी बन गये। ऐसे वर्ग को पीडित मानवता के नाम से पुकारे तो अत्युक्ति नहीं होगी एव पीडित मानवता के उद्धार के लिये मनुष्य मे पवित्र आत्मीय भावना की भी उत्कृष्ट श्रेणी होनी चाहिये। समान व्यक्ति से स्नेह करना सरल है किन्तु गिरे हुए को स्नेह देना तथा उसको उठाने के लिये सहयोग का हाथ बढाना तरह हार्दिकता एव भावुकतापूर्ण आत्मीयता से ही समव हो सकता है।

मानव मुनिजी अभी आपके सामने अपने कुछ अनुभव सुना गये। ये अनुभव वे मेरे इन्दौर चातुर्मास के बाद से ले रहे हैं। इन्दौर चातुर्मास से पहले

जब रतलाम के आसपास के मालव क्षेत्र मे विचरण करने का प्रसग आया तब कई बलाई जाति के पीडित और पिछडे हुए भाई मुझसे मिले। वे सभी प्रकार से बहुत दु खी थे। नागदा क्षेत्र मे तो ऐसे भाइयो की बडी ही दुर्दशा दिखाई दी। वे कहने लगे– महाराज, सारे देश मे हमको शरण देने वाला कोई नहीं है, सब हमसे घृणा करते हैं और हम हमारे वर्तमान जीवन से अत्यन्त दु खी है। यह पीडित मानवता का सजीव दृश्य था, जिसे देखकर मैं आत्मीय भावना से ओत प्रोत हो उठा। मैंने कहा– आप अपने मन में से घृणा को निकाल दो तथा सारे दुर्व्यसनो को छोड दो तो सबका सहयोग आपको अवश्य मिलेगा। आप अपने दुर्गुर्ण हटा देगे तो दुनिया आपको छाती से लगा लेगी।

यह विचारणीय तथ्य है कि एक बार किसी को पद्दलित बना दिया जाता है तो फिर उसके पतन का क्रम रूकता नहीं है। वह तुच्छ वृत्तियो तथा हीन भावनाओ का शिकार होता जाता है तथा घृणा का पात्र बन जाता है। उसके मन मे दुष्कृत्यो की ऐसी दुर्गंध भर जाती है जिनसे मस्तिष्क काली भावनाओ की तरफ मुड जाता है। काले मस्तिष्क से मनुष्य बुरा सोचता है तो बुरा बोलता है और बुरा करता है । इस बुराई के कारण ऐसा मनुष्य धर्मस्थान तक मे अच्छा चिन्तन नही कर पाता है और परमात्मा का दिल से स्मरण भी उससे नही हो पाता है। ऐसी काली आत्माओ को भी यदि सन्तजन का सद्बोध ा मिले तो वे अपनी कालिमा को समझ कर अपनी मलिन भावनाओं, गदी आदतो तथा कुकृत्यों को छोड सकते हैं और अपने जीवन क्रम में एक पवित्र परिवर्तन ला सकते हैं।

मेरा तो यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि मेरे कहने पर नागदा में इन बलाई भाइयों ने कुव्यसनो के त्याग किये। फिर मैं उनके आग्रह से पास के एक गाव गुराडिया भी गया, जहॉ विवाह शादियो के प्रसग से सत्तर गावों के उनके पच मौजूद थे। उनको आश्चर्य हुआ कि इतने छोटे गाव में महाराज कहाँ से आ गये ? खैर वहॉ के लोग मेरे पास आये किन्तु उन मे इतनी हीन भावना व्याप्त थी कि वे छुआछूत के विचार से बहुत दूर नीचे व गदे स्थान पर बैठ गये तो मैंने स्नेह से अपने पास बुला कर बैठाया। मुझे विचार आया कि जो मनुष्य अपने को उत्तम जाति का मानता है लेकिन मानवता से घृणा करता है तो उसे उत्तम जाति का कैसे कहे ? मनुष्य के मष्तिष्क में कितनी काली घृणा की भावना भर जाती है ? ऐसे लोग उत्तम जाति के तो कहलाते हैं, मगर धर्म स्थान पर बैठकर भी महाराज की बात नहीं सुनेगे और काली बातो मे गोते खाते रहेगे। कहॉ तो अहिसक कहलाने वाले उत्तम जाति के लोगो का चरित्र और कहॉ जन्मजात

दुर्व्यसनों तथा हिसा की गोद में पले ये पिछडे लोग जो अपने जीवन में शुभ परिवर्तन लाने को तत्पर बन रहे थे ?

पीडित मानवता के उद्धार के लिये पवित्र आत्मीय भावना की आवश्यकता होती है और वह यदि उन पिछडे हुए लोगो को मिल जाय तो फिर उनके उद्धार में अधिक कठिनाई नहीं होती है।

उद्धार का श्री गणेश
धर्मपाल का नामकरण

वहाँ गुराडिया, गाव में ज्यादा उपदेश भी नहीं दिया। चार मास, दो मास या दो घटे का समय भी उनको नहीं मिला। मुश्किल से एक घटा भर भी पूरा उपदेश वे नहीं सुन पाये होंगे कि भावनानश वे सब खडे हो गये और कहने लगे– महाराज, हमको मास, मदिरा तथा अन्य सब दुर्व्यसनों के त्याग कराइये और हमारे काले तिलक को मिटाइये। धर्मनाथ भगवान् की प्रार्थना के प्रसग से धर्म के प्रति उनकी भावना जागृत हुई और वहाँ पर तत्पर व्यक्तियो को मैंने त्याग प्रत्याख्यान कराये। तब से जीवन मे शुभ परिवर्तन लाने वालों को धर्मपाल के नाम से सम्बोधित करने लगे। इस प्रकार तब से पीडित मानवता के उद्धार का जो श्री गणेश हुआ, वह कार्य आज भी निरन्तर प्रगति पर है। उस सम्पूर्ण मालव प्रदेश में लाखो की सख्या मे धर्मपाल बन चुके हैं जो अपने नव सस्कारित एव धार्मिक जीवन से नये वातावरण मे कार्य कर रहे हैं।

नागदा से इन्दौर चातुर्मास के प्रसग से उज्जैन की तरफ विहार किया तो मैंने एक-एक गाव मे जाने की चेष्टा की तथा उन लोगो को प्रतिबोध दिया। फिर तो इन्दौर तक ऐसा सिलसिला चला कि लोगो ने दुर्व्यसन त्याग की लडी बाध दी और वे धर्मपाल बनते गये। ऐसे-ऐसे गावो में भी गये जहॉ न तो वहॉ के पिछडे हुए भाइयों को ज्ञान था कि हम लोग कैसा अन्न पानी लेते हैं तथा न वहॉ दलाली करने वाले भी कोई भाई थे जो बता देते। ऐसी अवस्था मे कई बार भिक्षा नहीं मिलती तो कभी-कभी दोपहर तक जल के बिना भी रह जाते। किन्तु यह जो त्याग का क्रम चल रहा था, उसके सामने कठिनाइयॉ कुछ भी महसूस नहीं हुई। आत्मीयता की पवित्र भावना का मन मे कुछ ऐसा विस्तार हो गया था कि उन पिछडे हुए भाइयों के उद्धार के प्रति हार्दिकता उमड पडी थी।

उत्साहपूर्ण बात यह थी कि जो जो लोग जिस जिस बात का त्याग लेते थे, उसके पूर्णतया पालन के लिये वे कटिबद्ध थे तथा पच लोग भी जातिगत

प्रभाव के द्वारा उनको व्रतपालन में दृढ बनाने लगे। बाहर से वे कैसे दिखाई देते थे, लेकिन उनका हृदय कैसा कोमल था ? यद्यपि घृणा करने वाले घृणा करते हैं, किन्तु उनके दिल मे हल्कापन था। उनके हृदय के अज्ञान के पर्दे को जरा सा छेडते थे तो वह हट जाता था और थोडे से उपदेश के उपरान्त ही उन में त्याग की शक्ति उभर आती थी। जैसा नामकरण किया गया था, अपने जीवन को परिवर्तित करके ये लोग धर्मपाल नाम के अनुरूप धार्मिक रग मे रगने लग जाते थे।

विचारो की पवित्रता वाणी और व्यवहार मे उतरने लगी

मैं आपसे क्या कुछ बताऊ– बहुतेरे क्षेत्रों का बहुतेरा अनुभव है। थोडे से सचोट उपदेश से ही इन लोगो की चेतना जाग जाती थी और उसके बाद दृढतापूर्वक पालन की भावना के साथ वे त्याग करने को उठ खडे होते थे। अहिसामय जीवन को अपनाने मे उनका उत्साह दर्शनीय था। वे सोचते थे कि महाराज के वचन हमारे लिये वरदान सिद्ध होगे। यह उनकी सच्ची आस्था थी। यही कारण था कि एक बार उनको सद्‌बोध दिया तो उनके विचारो मे पवित्रता आई और उसके बाद तो वे उस पवित्रता को वाणी और व्यवहार मे उतारने के लिये तुरन्त ही सन्नद्ध बन जाते थे।

मैं उनकी श्रद्धा और भक्ति को देखकर आश्चर्य करता हूँ और उनको धर्म के वास्तविक अधिकारिक कहना चाहता हूँ। लेकिन धर्म जिनको बपौती में मिलता है– वर्षो से लगातार मिलता रहता है, उनको धर्म की साधारण सी बात समझाने में भी दिक्कत होती है। एक ओर तो जो पिछडे लोग कहलाते हैं– जिनका छोटा सा मन मस्तिष्क है, वे तो केवल इशारा पाकर ही समलते जा रहे हैं तथा अपने जीवन में शुभ परिवर्तन ला रहे हैं लेकिन दूसरी ओर जो धर्म के ठेकेदार बने बैठे हैं उनके सामने डके की चोट नगारे बजाते जाओ तब भी उनका दिल हिलता तक नहीं है। कैसा अन्तर है जाति और वृत्ति में ? छोटे आदमी साफ दिल और पवित्र जीवन वाले बन रहे हैं मगर बडे कहलाने वाले लोग अपनी विषैली और तुच्छ भावनाओ से लिपटे हुए अपने वास्तविक विकास से दूर होते चले जा रहे हैं– यह चिन्तनीय वस्तुस्थिति है।

विचारों मे ही धार्मिक कहलाने वाले लोगो की पवित्रता पैदा नही होगी तो उनकी वाणी और उनके व्यवहार में सुधार कहाँ से आयगा ? उन्हें कम से

कम इन धर्मपाल भाइयो की तरफ देखकर ही अपने जीवन में समुचित परिवर्तन लाने का सकल्प बनाना चाहिये कि वे पिछडे कहलाने वाले लोग जब विचारों में त्वरित गति से पवित्रता लाकर अपनी वाणी और व्यवहार को पवित्र बनाने लगे हैं तो पवित्रता को वे कम से कम अब तो अपनावे। पवित्रता के अभाव मे कुलीनता का क्या मूल्याकन किया जा सकता है ? वास्तव मे कुलीनता वहीं माननी चाहिये, जहॉ जीवन मे पवित्रता दिखाई देती हो।

कई कुलीन कहलाने वाले निकटस्थ सम्बन्धी या भाई-भाई परस्पर लडते हैं तो ख्याल आता है कि जो कटुता व्यवहार मे झलक रही है– वाणी मे सुनाई दे रही है, वह विचारो मे कितनी गुनी कटु बनकर विष घोल रही होगी ? उस कटुता को निकालना तथा तीनो द्वारो मे पवित्रता का प्रसार करना कर्त्तव्य बन जाना चाहिये। कही-कही भद्रिकता के दृश्य भी दिखाई देते हैं। लीरी गाव के भाई यहॉ बैठे हुए हैं। जब मैं विहार करता हुआ उनके गाव गया था तब मुझे उनके बडे पुराने झगडे की भनक मिली। मैंने दो तीन व्याख्यान दिये और पूछा कि हृदय में सरलता आई क्या ? तब व्याख्यान के उठते ही आपस मे बैठ कर उन भाइयो ने 70 वर्ष पुराने झगडे को न मालूम कैसे मिटा दिया ?

फल प्रश्न यह है कि पहले विचारों मे सरलता और पवित्रता आ जानी चाहिये और जब विचारों मे ऐसी दृढता आ जाती है तो वह पवित्रता फिर वाणी और व्यवहार में उतर कर उस व्यक्ति को मानवता का प्रेमी और सेवक बना देती है।

मनसा वाचा कर्मणा पवित्रता अपनाइये !

जानते हैं खरगोश एक छोटा सा जानवर होता है जो जगल की झाडियों की ओट में बैठा रहता है। किसी शिकारी के पैरों की आहट पाकर वह भागता है और भागते-भागते जब थक जाता है और मैदान मे छिपने को कोई झाडी नहीं दिखाई देती है तो अपने लम्बे कानो को नीचे करके दुबक कर इस तरह बैठ जाता है जैसे वह झाडी में छिप गया हो। वह इसे अपनी चतुराई समझता है लेकिन शिकारी के हाथों वह बचता नहीं है। इसी प्रकार विचार, वचन और व्यवहार में अपवित्रता बरतने वाले अपने को बहुत चतुर समझते हैं, लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि आखिर जाकर अपवित्रता का भाडा फूटेगा ही और कालिमा प्रकट होकर रहेगी।

अत अपने जीवन को सुधारिये तथा मनसा वाचा कर्मणा पवित्रता को अपनाइये। जीवन के तीनो द्वारो मे जब पवित्रता और शान्ति का झरना झरता है तो वहाँ सच्चा आत्म-सुख तथा वास्तविक आत्मानन्द प्रकट होता है जो सदा काल बना रहता है।



15

परमात्मा कहाँ और कब दिखाई देंगे ?

जनमत शान्ति करी निज देश मे
मिरगी मार निवार हो सौभागी।
शान्ति जिनेश्वर साहिब

शान्तिनाथ परमात्मा को जीवन के मगलमय प्रभात मे मगलाचरण के रूप मे अपने ज्ञान चक्षुओ के समक्ष उपस्थित करना अपने जीवन को मगलमय एव शान्तिमय बनाना है। यह मानव जीवन देवो के लिये भी दुर्लभ है, पशु योनि के तो समीप भी नहीं तथा नरक के प्राणियो के लिये अशक्य सा है, ऐसे इस जीवन में यदि शुभ मगलाचरण नही किया और शान्ति के भव्य पुरुषार्थ को नहीं अपनाया तो इस अमूल्य मानव जीवन की अपार क्षमता का वास्तविक लाभ उठाया नहीं जा सकेगा। किन्तु जो शान्तिनाथ परमात्मा को अपने हृदय के सिहासन पर बिठाकर जीवन को शान्ति के अमृत से लबालब भर लेते हैं, वे ससार में भी शान्ति का पवित्र प्रवाह प्रवाहित करते हैं तो स्वय भी सदा काल के लिये परम शान्ति मे अवस्थित हो जाते हैं।

कोई भी अगर शान्तिनाथ भगवान् के भव्य आदर्श को अपने जीवन के समक्ष रखे तथा तदनुरूप आचरण के द्वारा अपना उत्थान करना चाहे तो उसके लिये सर्वोच्च उत्थान भी सहज बन जाता है। उसे इस रहस्य का भी ज्ञान हो जाता है कि परमात्मा कहाँ और कब दिखाई देंगे ? कब अपने से एकाकार हो जायेगे ?

वास्तविकता एव भ्रान्ति की अवस्थाएँ

किसी भी विकासशील आत्मा के लिये उसका अन्तिम लक्ष्य स्पष्ट होना

चाहिये, क्योकि वही इस तथ्य के प्रमाणीकरण की कसौटी होती है कि जो विचार, विधि या व्यवहार अपनाया जा रहा है, वह उस लक्ष्य प्राप्ति के प्रति वास्तविक है अथवा भ्रान्तिपूर्ण ? यदि लक्ष्य स्पष्ट न हो तो अज्ञान अथवा मिश्रित ज्ञान की दृष्टि मे यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि वह जिन साधनों को ग्रहण करके जिस दिशा मे चल रही है, वे साधन अथवा वह दिशा वास्तविक है या भ्रामक ?

वास्तविकता एव भ्रान्ति की अवस्थाएँ यदि शकाशीलता मे चलें तो गति प्रगति भी हो सकती है लेकिन गति विगति भी हो सकती है। आत्म निर्णय की स्थिति वहा नही होगी। तो ऐसी अधकारपूर्ण स्थिति में पुरुषार्थ का प्रबल वेग नहीं फूट सकता है। कल्पना करे कि आपको किसी गाव जाना है। आप यह समझकर एक रास्ते पर चले कि वह रास्ता उस गाव को पहुँचा देगा। आपने किसी विशेष जानने वाले से जानकारी ली नही और उस रास्ते पर चलते रहे। कुछ दूरी तक चलने के बाद आपका हृदय शकाशील बन गया कि यह रास्ता उस गाव को पहुँचावेगा या नहीं। वास्तविकता एव भ्रान्ति की ऐसी अवस्था बडी विचित्र होती है। यदि आपको सही जानने वाला मिल जावे और उससे आपकी शका का पक्का समाधान हो जावे तब तो उस रास्ते पर आपके पाव तेज गति से आगे बढ जाते हैं और ऐसा तब भी हो सकता है जब आपको बताने वाला गलत रास्ता बतादे और आप उसमें विश्वास रखकर भ्रान्ति को भी सही मानकर चलत्ते जावे। तब भ्रान्ति का गलत नतीजा सामने आने पर ही आख खुलती है। लेकिन असमजस की हालत में तो पावो की गति भी बध जाती है। इसलिये विकासशील आत्मा पहले अपने अन्तिम लक्ष्य को स्पष्ट बनाकर अपने सामने रखती है तथा अपनी गति का प्रत्येक चरण उस कसौटी पर कस कर आगे बढाती है। ऐसी आत्मा कभी ठोकर नहीं खाती।

श्रमण सस्कृति में इसी कारण ज्ञान को और सम्यक्ज्ञान को प्रथम क्रम पर रखा गया है कि वास्तविकता का ज्ञान पहले हो जाने पर श्रद्धा भी सच्ची होगी और आचरण भी सही बनेगा। सम्यक्ज्ञान के प्रकाश मे भ्रान्ति का अधकार आखो को अधी नहीं बना सकेगा।

वास्तविक लक्ष्य तथा ससार के विविध प्रलोभन

यह आत्मा जितनी भी इच्छाएँ, आशाएँ एव अभिलाषाएँ रखती है, उन सब की पूर्ति तभी हो सकती है, जब वास्तविक लक्ष्य को अपना मार्गदर्शक

बनाया जाय। परमात्मा के साक्षात्कार एव आत्मिक शान्ति का लक्ष्य सामने रखकर जो आत्मा कर्म पथ पर प्रमाण करे तो उसका लक्ष्य भी परिपूर्ण बनता है। लेकिन जो आत्माएँ अपना वास्तविक लक्ष्य निर्धारित नही कर पाती हैं, वे भ्रान्तिपूर्ण ससार के विविध प्रलोभनों मे गिर कर भौतिक आशाओ की पूर्ति में ही लगी रहती है। भ्रान्ति मे गिर जाने के कारण वे रेत मे से तेल निकालने की चेष्टा में लगी रहती हैं जो तेल कभी निकलता नहीं है। आध्यात्मिक एव आत्मिक शान्ति के मार्ग को छोडकर भौतिक साधनो की पूर्ति का लक्ष्य बनाना और वैसे मार्ग को अपनाना पथ भ्रष्टता कहलाता है।

वास्तविक लक्ष्य को ओझल करके जो आत्मा भौतिक इच्छाओं की तृप्ति की तरफ दौडती है, उसे वह तृप्ति कभी होती नहीं। क्योकि एक बात की तृप्ति दूसरी बात के लिये तृष्णा को जगा देती है और यह श्रृखला कभी टूटती नही है। ससार के विविध प्रलोभन उसको लुभाते रहते हैं। इनका यह नियम है कि आशाएँ अधिकाशत मृगतृष्णा का रूप लिये रहती है, इसलिये एक आशा की पूर्ति मे कभी-कभी सारे जीवन का भटकाव हो जाता है और आशा पूरी नहीं होती। कभी बडी कठिनाई से कोई आशा पूरी हो गई तो उसकी पूर्ति होते-होते दूसरी आशा जाग जाती है। इस व्यामोह की दशा मे आत्मा का सारा पुरुषार्थ लग जाता है तो सारा जीवन व्यर्थ हो जाता है।

बच्चा माता की कुक्षि से बाहर आता है, तब अपनी भूख को शान्त करने के लिये वह उस इच्छा को रोने के माध्यम से प्रकट करता है। माता बच्चे के रूदन को समझ कर बच्चे की इच्छा-तृप्ति के लिये उसको स्तनपान कराती है। जैसे ही बच्चे ने दुग्ध पान किया कि उसके मन मे दूसरी इच्छा जाग जाती है कि मैं खेलू। खेलकूद की इच्छा की पूर्ति होते-होते कमाने के लिये काबिल बनने की इच्छा जागती है सो वह पढाई मे या किसी काम को सीखने मे लगता है ओर फिर उसके बाद तो ससार के वैभव की भारी तृष्णा जाग जाती है तथा साथ ही तरुणाई के राग रग की वितृष्णा भी जाग जाती है। फिर पत्नी, बाल बच्चे, परिवार आदि के व्यामोह का ऐसा भवरजाल बन जाता है कि न मोह छूटता और न तृष्णा छूटती है। वह वातचक्र घूमता ही जाता है एव आत्मा उसमे डोलायमान होती रहती है।

शान्ति की खोज मे अशान्ति के अनुभव

इसमे कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक आत्मा शान्ति की चाह रखती है और

चाह के मुताबिक शान्ति की खोज भी करती है। किन्तु सबसे बडी विडम्बना यही रहती है कि वह न तो स्पष्ट लक्ष्य का निर्धारण कर पाती है और न ही भ्रान्ति का निराकरण करके वास्तविकता को पहिचान पाती है। इसलिये शान्ति की खोज मे भी उस आत्मा को अशान्ति के ही अनुभव होते रहते हैं क्योकि जिस क्षेत्र मे वह भटकती और लुभाती है, वह क्षेत्र शान्ति का नहीं होता है। भौतिक तत्त्वो की आशा तथा सासारिक वितृष्णा के क्षेत्र में शान्ति की खोज की जाय तो वह वहाँ कैसे मिलेगी ?

यदि वास्तविक शान्ति की अभिलाषा लेकर सही क्षेत्र मे याने कि आध्यात्मिक एव आत्मिक क्षेत्र में उसकी खोज की जाय और लक्ष्य के अनुसार ग्रहण किये जाने वाले तत्त्वो को कसौटी पर कस कर परखा जाय एव फिर ग्रहण किया जाय तो फिर वहाँ भ्रान्ति की अवस्था खडी होने का कोई कारण नहीं रहेगा। यह स्पष्ट बनना चाहिये कि जिन-जिन तत्त्वों को ग्रहण किया जा रहा है, वे सच्ची शान्ति के लिये सहायक हैं या नही। यदि वे तत्त्व सच्ची शान्ति के लिये सहायक होंगे तो उनको ग्रहण करने से शान्ति मिलेगी और जितने अधिक परिमाण मे वे ग्रहण किये जायेंगे, उतनी ही अधिक शान्ति मिलेगी। रात और दिन अविराम गति से उन तत्त्वों को ग्रहण करते रहे तो उतनी ही अधिक निरन्तर शान्ति मिलेगी।

यह स्थिति है शुभ तत्त्वों की— जिनके ग्रहण करने से सच्ची शान्ति मिलेगी, लेकिन अशुभ तत्त्वों को ग्रहण करते हुए कोई शान्ति की अपेक्षा रखे तो वह प्रतिफलित नही हो सकेगी। अशुभ तत्त्वों को ग्रहण करने में तो अशान्ति के अनुभव ही सामने आवेंगे। जैसे बढिया भोजन करने में कोई यह मानकर चले कि उससे शान्ति मिलती है तो एक वक्त भोजन करने में जितनी शान्ति मिलती है उतनी ही शान्ति दो वक्त भोजन करने पर भी मिलनी चाहिये और उतनी ही तीन वक्त या बार बार भोजन करने पर मिलनी चाहिये। दिन भर यदि बार-बार वह मिष्ठान का भोजन करता रहे तो बताइये, उसको कितनी शान्ति मिलेगी ? जब तक पूरी तृप्ति नहीं होगी तब तक तो वह कुछ शान्ति का अनुभव करेगा, परन्तु पेट भर जाने के उपरान्त वह आगे से आगे अधिक से अधिक अशान्ति का अनुभव करने लग जायगा। फिर उसको आप कितनी ही मिठाई जिमावे, वह उसको कष्ट मानेगा। इससे नतीजा यह निकला कि मिठाई से वास्तविक शान्ति नहीं मिलती है। ऐसी ही दशा अन्य योग्य पदार्थों की भी माननी चाहिये।

शान्ति की खोज अशान्ति के तत्त्वों में करेगे तो उससे शान्ति कैसे मिलेगी ? शान्ति के तत्त्वों में जब शान्ति की खोज की जायगी तो उससे शान्ति अवश्य मिलेगी।

जहाँ शान्ति मिलेगी, वही परमात्मा मिलेगे।

जहाँ अनन्त शान्ति है, वही परमात्मा विराजमान रहते हैं। यदि वास्तविक शान्ति की साधना करनी है तो शान्तिनाथ भगवान् द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुगमन करना होगा– तन, मन, वचन के शुक्र भावो से उस पर चलना होगा। शान्तिनाथ प्रभु तो सिद्ध हो चुके, उन्हे तो ये चर्मचक्षु देख नहीं पाते हैं किन्तु उनका बताया हुआ मार्ग मनुष्य के समक्ष है तथा मननशील मनुष्य उस मार्ग पर चल कर वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सकता है।

क्या चर्मचक्षु परमात्मा को देख सकते हैं ? इस पर एक शास्त्रोल्लेख है। महावीर प्रभु विराजमान हैं और गौतम गणधर सेवा मे बैठे हुए हैं। प्रभु महावीर ने कहा न हू जिणेसू, हे गौतम, तू आज परमात्मा को जिन भगवान् को देखना चाहता है, लेकिन तू जिन भगवान् को नहीं देख पा रहा है। साक्षात् जिन भगवान् सामने बिराजे हुए हैं, गौतम स्वामी जिन को जिन समझ रहे हैं लेकिन जिन भगवान् बता रहे हैं कि तुझे जिन नहीं दीख रहे हैं बल्कि जिन का बताया हुआ मार्ग नयवाद के माध्यम से दीख रहा है। इस कथन मे पहली दृष्टि से विरोधाभास दीखता है, किन्तु ऐसा है नहीं। महावीर ही स्पष्ट करते हैं– जिन तुझे नहीं दीखते– यह कथन सत्य है। तू अभी अपूर्ण है और इन चर्म चक्षुओ से तू वीतराग को नहीं देख सकता है। तुझे सिर्फ शरीर पिड दिखाई दे रहा है। वह परमात्म तत्त्व तो स्वय परमात्मा बन कर ही देख सकोगे। कहने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा ने उन तत्त्वो तथा आदर्शो को दुनिया के सामने रख दिया है, जिनको अगीकार करने से वास्तविक शान्ति मिल सकेगी। आत्म विकास की अपूर्ण अवस्था मे परमात्म स्वरूप को समक्ष देखा नहीं जा सकता है किन्तु उनके द्वारा प्रदर्शित कर्म पथ को समझ सकते हैं तथा उसका अनुसरण करके शान्तिलाभ ले सकते हैं। यों मान लीजिये कि जहाँ शान्ति मिलेगी, वही परमात्मा मिलेंगे क्योकि परमात्मा का प्रमुख गुण ही अनन्त शान्ति होता है।

साक्षात्कार : आत्मा का, परमात्मा का

महावीर ने गौतम से कहा– हे गौतम, तू एक क्षण मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर। प्रमाद नही करना है तो क्या पुरुषार्थ करना है ? वह जीवन का

सर्वाधिक प्रधान पुरुषार्थ है साक्षात्कार का। आप अपनी आत्मा से साक्षात्कार करे– परमात्मा से साक्षात्कार करे। यह साक्षात्कार कैसे हो ? क्या इन चर्म चक्षुओ के माध्यम से ? चर्म चक्षुओ की दृष्टि बाहर की दृष्टि होती है। वे आन्तरिकता को और सूक्ष्मता को देख नहीं सकते हैं। भीतर और बारीक को देखने की शक्ति होती है ज्ञान के पास। ज्ञान चक्षु ही अन्तर्दर्शन कर सकते हैं और कर सकते हैं आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार।

कहते हैं एक बार राजा जनक की सभा मे बहुतेरे विद्वान् एकत्रित थे। ब्रह्म और आत्म-साक्षात्कार की चर्चा चल रही थी। जनक ने घोषणा की थी कि जो मुझे कम से कम समय में परमात्मा से साक्षात्कार करा देगा, उसे अधिक से अधिक पुरस्कार दिया जायगा। इसीलिये कई स्थानो से एकत्रित विद्वान् चर्चा कर रहे थे, तभी एक ऋषि वहॉ पहुँचे, जो साक्षात्कार कराने का सकल्प लेकर आये थे। ऋषि को देखकर वे सभी विद्वान हसने लगे। खूब हसे और जब उनकी हसी शान्त हुई तो ऋषि जो तब तक शान्त थे, बहुत जोरो से हसने लगे। जब ऋषि शान्त हुए तो जनक राजा ने पूछा– आप साक्षात्कार कराने आये हैं और इस हसी का मैं कुछ भी अर्थ नही लगा सका हू। ऋषि ने कहा– राजन्, पहले अपने विद्वानो से पूछिये कि वे क्यो हसे ? एक मुख्य विद्वान् ने राजा के पूछने पर बताया– महाराज, हमने आशा की थी कि साक्षात्कार कराने वाला ऋषि भव्य आकृति वाला होगा, किन्तु आठो अग जिसके वक्र याने टेढे मेढे व कुरूप है– ऐसे इन ऋषि को देखकर हम अपनी हसी नही रोक सके। ऐसा व्यक्ति क्या परमात्मा का साक्षात्कार करायगा ?

राजा जनक ने तब ऋषि से कहा– अब आप बताइये अपनी हसी का कारण। वे ऋषि अष्टावक्र ऋषि थे। ऋषि बोले– मैं आया उससे पहले यह समझ रहा था कि राजा जनक की सभा मे दूर-दूर के विद्वान् उपस्थित हैं और उनके साथ चर्चा करने व साक्षात्कार कराने का आनन्द आयगा। किन्तु मैं यहॉ आया और मैंने जो देखा कि यहॉ तो कोई विद्वान् नहीं, सभी चमार है तो मैं हसे बिना रह नहीं सका। मैं भी इस कारण खूब हसा। आप जानते होंगे कि चमार कौन होते हैं और चमार की नजर कहॉ रहती है ? चमार चमडे का काम करता है तथा चमडे को देखकर ही अपने मन के भावों को प्रकट करता है। मेरे शरीर को देखकर ये हसे तो इनकी नजर मेरे चमडे तक ही गई– इनकी दृष्टि मेरी आत्मा तक नही पहुँच सकी। तो ये अपनी चमडे की आखों से क्या साक्षात्कार करा सकेंगे ?

ऋषि को तब जनक ने कहा– अच्छी बात है, आप ही हमें परमात्मा से साक्षात्कार कराइये। ऋषि ने कहा– मैं इसके लिये तैयार हू, लेकिन एक शर्त है। वह यह कि मैं वही पुरस्कार लूगा, जो आपका अपना होगा। राजा ने कहा– हॉ-हॉ, अपने खजाने से दूगा, अपने पहने हुए आभूषणों में से दूगा– आप निश्चिन्त रहे। तब ऋषि ने राजा को बोध दिया– हे राजा, यह खजाना और ये आभूषण क्या– यह शरीर भी तुम्हारा नही है क्योकि इनमे से कोई भी तुम्हारे साथ चलने वाला नहीं है। जो आपकी अपनी है वह है आपकी आत्मा। इसलिये आप अपनी आत्मा को पुरस्कार रूप में मुझे हाथ मे दे दे, मैं आप को परमात्मा से साक्षात्कार करा दूगा।

है क्या आपकी भी साक्षात्कार करने की तैयारी ? परमात्मा से साक्षात्कार करना है तो पहले अपनी ही आत्मा से साक्षात्कार करिये और आत्मा से साक्षात्कार कैसे होगा ? जब आप सारे ससार की सभी आत्माओं के साथ समभाव, समदृष्टि एव सम व्यवहार बना लेगे– आत्मवत् भावना से अभिभूत हो जायेगे।

परमात्मा कहॉ और कब मिलेगे ?
जहॉ और जब सेवा की उत्कृष्टता होगी

साक्षात्कार की तैयारी करले तो परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। कहॉ मिलेगे परमात्मा ? भगवान् शान्तिनाथ ने कहा है– यदि तुम शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो मैं तो तुम्हारे चर्म चक्षुओ की दृष्टि मे आ नही सकता हूँ, लेकिन तुम मेरे बताये हुए शान्ति मार्ग पर चल सकते हो और वह मार्ग यह है कि मेरा प्रतिनिधित्व ससार की जिन सभी भव्य आत्माओ मे है, उनकी शुद्धमन से सेवा करो तथा उत्कृष्टता के साथ सेवा करो। आत्माओ की जो सेवा है, वही परमात्मा का साक्षात्कार है। आत्माओ की पीडा को दूर करेगे, उसी मे परमात्मा का दर्शन मिलेगा।

आपको उत्कृष्ट सेवा उनकी करनी हे जो आप को इन चमडे की आखो से दिखाई दे रहे हें। जिन इन्सानो तथा प्राणियों के साथ आपका सहज सम्पर्क होता है, उनके दु खो और कष्टो की आप अनुभूति ले तथा सहानुभूतिपूर्वक उनकी सेवा में जुट जावें। जितनी अपने सत्सहयोग से पीडित मानव एव प्राणी को आप सच्ची शान्ति पहुँचा सकेगे, निश्चय मानिये, उसके परिणामस्वरूप आपको भी सच्ची शान्ति प्राप्त होगी। क्योकि दिखाई देने वाले समस्त शरीरो मे

भी उसी स्वरूप की आत्माएँ रही हुई हैं जो स्वरूप भगवान् शान्तिनाथ की आत्मा का था और एक दृष्टि से मूल मे सम स्वरूप होने के कारण आज भी है। परमात्मा की खोज करनी है तो दु खी मनुष्यो और प्राणियों के बीच में रहकर, उनकी सेवा से उनके दु खों को दूर करके करो, उस वातावरण में आपको परमात्मा के अवश्य दर्शन होगे।

समझिये कि आप शान्तिनाथजी के नाम की माला फेरे और स्वय शान्ति प्राप्त करने की अभिलाषा करे तो उसके लिये मानव समाज एव प्राणी समूह के साथ अपने व्यवहार को अत्यन्त मृदुल तथा स्नेह सहयोगपूर्ण बनावें, अपने आचरण मे ईमानदारी व सत्यनिष्ठा का समावेश करे तथा प्रत्येक आत्मा को अपनी ओर से शान्ति पहुँचाने के लिये पूर्णतया सचेष्ट रहे। यदि ऐसा नही करते हैं तो भले हजारों हजार जिन्दगियो तक शान्तिनाथजी की माला फेरते रहें तो उससे पुण्यार्जन भले हो जाय, लेकिन सत् चित् एव आनन्द रूप अनन्त स्थायी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी। इसलिये समस्त आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य ही माने तथा उनकी उत्कृष्ट भावना के साथ सेवा करके उनको सच्ची शान्ति प्रदान कर सके तो आपको भी शान्तिनाथ परमात्मा प्राप्त हो जायेंगे।

जब सन्तप्त आत्माओं की सेवा का सुअवसर मिलता है और उनका ताप मिट कर उनमे आनन्द की कलिया खिलती है, तभी अपनी अन्तरात्मा मे भी सच्चे आनन्द का प्रवाह बहता है। यह आनन्द जितना गहरा होता जाता है– शान्ति जितनी स्थायी होती जाती है, वास्तव मे अपने ही भीतर परमात्म-स्वरूप प्रकाशित होने लगता है। कोई पूछे कि परमात्मा के दर्शन कब होगे, तो कहा गया है कि देव बनकर ही देव को देखा जा सकता है तथा परमात्मा स्वरूप की अनुभूति लेने के बाद ही परमात्मा मिल सकेगे। शान्तिमय बनकर शान्ति का अनुभव मिल सकता है और स्वय शान्त होंगे तो दूसरों को शान्ति दे सकेगे तथा शान्ति देगे तो शान्ति पा सकेंगे। सेवा करेंगे तो दूसरों को शान्ति मिलेगी और उनकी शान्ति में आपको परमात्मा मिलेंगे।

परमात्मा मिलेगे क्या–
स्वय परमात्मा बन जायेगे

यह शान्ति मार्ग तो ऐसा सेवा और त्याग का मार्ग है कि यदि इस पर उत्कृष्ट निष्ठा के साथ चले तो परमात्मा क्या मिलेंगे, आप स्वय परमात्मा बन सकेंगे। परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व की समग्र आत्माओ के साथ आत्मीय

सममाव, समदृष्टि तथा समव्यवहार रखने वाला यदि आपका आदर्श जीवन बन जाय तो 'एक मे सब' और 'सबमे एक' की अनुभूति प्राप्त हो जाती है और यही अनुभूति सम्पूर्णतया विकसित बनकर इसी आत्मा को परमात्म स्वरूपी बना देती है।



16

दिल और दिमाग से दुर्गंध निकालें !

विघन न व्यापे तुम सुमिरण किया
नाशे दारिद्रय दु ख हो सौभागी।
अष्ट सिद्धि नव निधि पग-पग मिले
प्रकटे नवला सुख हो सौभागी।
शान्ति जिनेश्वर साहिब सोलमा

शान्तिनाथ परमात्मा के स्वरूप का अवलोकन करने से, उनके स्वरूप को ध्यान मे बनाये रखने तथा जीवन मे सजोने से आन्तरिक पवित्रता अवश्य बढेगी। मन में पवित्रता का अकुरण होगा तो वाणी मे अमृत की धारा बहने लगेगी और शरीर की प्रवृत्तियो में भी अमृत का झरना फूट पडेगा। अपने स्वय के जीवन को तो वह निहाल करेगा ही, लेकिन अन्य प्राणियों का भी वह हित साधन करेगा।

पवित्रता एक दिव्य सुगध के समान होती है जो भीतर बाहर फैल कर एक सुन्दर वातावरण का निर्माण कर देती है। सुगध कहॉ फैलती है ? जहॉ पर पहले दुर्गध हटा दी जायगी। यह दुर्गंध कैसी है जिसको हटाने पर पवित्रता की सुगध फैलेगी और यह दुर्गंध फैल कहॉ रही है ? इस दुर्गध का अभिप्राय बाहर की दुर्गंध से नही है, बल्कि भीतर की दुर्गध से है जो दिल और दिमाग मे फैलती है। यह दुर्गंध बनती है विषय विकारों की सडन से और कलुषित भावनाओ की तपन से। इस दुर्गंध से जब दिल और दिमाग जकडता है तो आदमी की बोली और करणी भी बिगड जाती है। अत जरूरी है कि अपने दिल और दिमाग से इस दुर्गंध को निकाल दे।

अपवित्रता लाने वाली समस्याएँ और बुद्धि का प्रयोग

जन जीवन मे अनेकानेक समस्याएँ खडी होती रहती हैं और मानव उन समस्याओ की विविध प्रकार की उलझनो मे उलझता रहता है। यह नहीं कि वह सिर्फ उलझता ही है, बल्कि उनको सुलझाने के लिये वह प्रयत्न भी करता है। मानव के पास जो बुद्धि होती है, उसका वह प्रयोग मुख्य तौर पर समस्याओ का हल निकालने मे ही करता है। अब यह बुद्धि के स्वरूप पर निर्भर करता है कि वह समस्याओं को सुन्दर रीति से हल कर लेता है या उनमे उलझ कर किकर्त्तव्यविमूढ बनता है, अथवा उन समस्याओं को गलत रास्ते पर ले जाकर अपने लिये और जन जीवन के लिये भटकाव और बिगाड पैदा कर देता है।

बुद्धि का प्रयोग बहुत महत्त्व की बात होती है। ससार में जितने भी तत्त्व या पदार्थ हैं, उनका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग इस बुद्धि के प्रयोग के बल पर ही होता है। जिसकी बुद्धि में सदाशयता, स्थिरता एव शान्ति होती है, वह कठिन से कठिन समस्या का सुन्दर हल निकाल देता है तथा अशुभ से अशुभ पदार्थ का भी सदुपयोग कर लेता है। इसके विपरीत अस्थिर, अशान्त एव विकारपूर्ण बुद्धि वाला सीधी समस्याओं को भी बिगाड कर रख देता है तो शुभ पदार्थों का भी दुरुपयोग करके सबके सामने गलत उदाहरण पेश करता है।

वस्तुत बुद्धि के प्रयोग का आधार मन का स्वरूप होता है। मन में जिस रूप में पवित्रता अथवा अपवित्रता होती है, वैसी ही झलक बुद्धि मे दिखाई देती है और वैसा ही उसका प्रयोग सामने आता है। पानी स्वच्छ और निर्मल हो तो काच की तरह वह भीतर से भी साफ दिखाई देता है लेकिन उसी पानी को अगर आग पर उबलने को रख दिया जाय तो उबलते हुए उसके अणु परमाणु इस तरह उथल पुथल होते हैं कि स्वच्छता होते हुए भी उसकी निर्मलता पहले की तरह दीखनी बन्द हो जाती है। फिर उस पानी को ठडा होने के लिये नीचे रख दे तो कुछ देर बाद उसकी तरगें शान्त हो जायगी और उसकी निर्मलता पुन पहले की तरह उभर कर आ जायगी। पानी का एकदेशीय उदाहरण है जो स्थूल रूप में मन की गतिविधियों का चित्र अकित करता है। यों मनुष्य की बुद्धि मूल रूप में निर्मल होती है जब मन में शान्ति और गभीरता हो, लेकिन जब-जब उसको मन, वचन, काया में फैलने वाले विकारों का ताप लगता है तो उसमें उथल पुथल मच जाती है ओर जिस तरह की उथल पुथल होती है, उसी तरह उसका प्रयोग सामने आता हे।

इसलिये कहा है कि मनुष्य अपने दिल और दिमाग से अपवित्रता की दुर्गंध को निकाल दे एव पवित्रता की सुगध भर ले तो उसके मन की गतिविधियो मे गभीरता तथा शान्ति का समावेश हो जायगा। मन गभीर और शान्त होगा तो बुद्धि का प्रयोग भी स्वच्छ एव निर्मल बन जायगा। ऐसा पवित्र मन ही भगवान् शान्तिनाथ के शान्त स्वरूप की प्रतीति ले सकता है।

ऐसी प्रतीति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिये यह प्रक्रिया जान लेनी चाहिये कि मन की गति कैसे जगती है, कैसे क्रियाशील बनती है और किस रूप मे कैसी दिशा में दौडने लग जाती है ? क्या कारण बनते हैं कि वह गति कभी तो शीतल जल की तरह स्वच्छ और पारदर्शी होती है तथा कभी उबलते खौलते पानी की तरह गन्दी और घातक बन जाती है ?

मन की गतिविधियो के सचरण में जो कालिख तथा अपवित्रता जमती है, उसके बीज रूप होते हैं विषय और कषाय। इन बीजों के असर से मनुष्य के मन मे बहुतेरी कल्पनाएँ उठती हैं। जैसे मनुष्य लालसा करता है कि वह खूब धन कमावे, अपने वैभव की छाप लोगों पर छोडे तथा धनाढ्य पुरुष कहलावे। धन के बाद यश की लालसा बडी जोरदार होती है। वह सोचता है कि सब ओर उस का नाम हो, सत्कार व सम्मान का उसके चरणों में ढेर लग जाय और यश मे उससे आगे कोई नहीं बढने पावे। जहाँ लालसा होती है, उसके पीछे-पीछे ही ईर्ष्या भी चलती है। लालसा चाहती है कि खूब धन और यश मिले तो ईर्ष्या उत्तेजना देती है कि धन और यश लेने में जो तुमसे आगे बढ रहा है उसको गिराओ– पीछे धकेलो और तुम सब से आगे बढ जाओ। जहाँ ईर्ष्या होती है, वहाँ दुर्भावना आती है– क्लेश की प्रवृत्ति पनपती है। ये सब दुर्गुण मिलकर मन की गतिविधियों का सचरण विकृत बनाते हैं। यह विकृति सडती है तो दुर्गंध पैदा होती व फैलती है। फिर मन, वचन और काया में अपवित्रता फैल जाती है जिससे अशान्ति भी व्याप्त हो जाती है।

गहरे खड्डे की तरफ घोडा दौडे और उस समय उसकी लगाम नहीं खीचें तो क्या नतीजा होगा ? इसी तरह मन की विकृत गतिविधियाँ जब आत्म स्वरूप को ही अपवित्रता में रगने लगे तो विवेकशील व्यक्ति मन का नियत्रण ही करना चाहेगा। यह नियत्रण भी विधिपूर्वक होना चाहिये। समझिये कि कोई ईर्ष्यावश दूसरे को रोकना या नीचे गिराना चाहता है क्योंकि वह उससे आगे बढ

रहा है तो ईर्ष्या करने वाले के मन मे पहले दुर्भावना की आग सुलगने लगती है। वह बेमन होकर घूमता है कि मौका मिलने पर उस आगे बढने वाले व्यक्ति को नुकसान पहुँचाना है। इस उधेडबुन में उसका मानसिक तनाव बढ जाता है और उस की नींद हराम हो जाती है। उस सन्तप्त मन को लेकर वह अपनी समस्याएँ भी हल नहीं कर पायगा। और पहले उसका अपना नुकसान होने लगेगा। सामने वाले को तो वह नुकसान पहुँचा सकेगा या नहीं– यह दूर की बात है, मगर अपनी अशान्ति मे अपना नुकसान तो करेगा ही। स्वभाव की विकृतता को लेकर वह परिवार, समाज तथा राष्ट्र मे भी कष्टप्रद उथल पुथल मचा सकता है।

ऐसे बहुतेरे व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को नहीं समझ कर सिर्फ दूसरों को सकट में डालने और नीचे गिराने मे ही लगे रहते हैं। वे यह भी नहीं देख पाते कि दूसरा अपने कर्त्तव्य पालन के साथ धन या यश कमा रहा है तो उसके प्रति ईर्ष्या क्यों रखी जाय ? उसका अनुकरण ही क्यों नहीं किया जाय ? इसलिये मन पर नियत्रण की विधि यह होगी कि उसे पहले अपने कर्त्तव्य पालन पर केन्द्रित बनाया जावे। जब अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा पैदा होगी तो फिर दूसरों के प्रति अकारण वह दुर्भावना पैदा नहीं करेगा। फिर उसकी ऐसी दृष्टि भी बन सकती है कि दूसरा नीति से धन कमा रहा है या कि सत्कार्य करके यश कमा रहा है तो उसके साथ ईर्ष्या न करके धन और यश कमाने में उसकी सही विधि का अनुसरण करने लग जाय। दूसरो के सद्‌गुणो को ग्रहण करके अपने कर्त्तव्य पालन पर दृढता अपनाई जायगी तो उससे मन की गतिशीलता स्वस्थ बनेगी तो मन मे एक सुखद सन्तोष भी पैदा होगा। मन के नियत्रण की इस आत्मप्रेरित विधि के अनुसार वह मन का सन्तोष मन मे शीतलता, स्थिरता एव शान्ति की अवस्था को अभिवृद्ध बनायगा।

दु.ख, दारिद्रय एव विघ्नो का स्त्रोत कहाँ है ?

मन मे जब तक काम, क्रोध, मोह, माया आदि आदि विकारों की प्रबलता रहेगी तो बुद्धि उत्तेजित एव मोह ग्रस्त बन कर जीवन मे इस तरह के दुष्प्रयोग करेगी कि जिनसे दु ख, दारिद्रय, एव विघ्नो का सिलसिला शुरू हो जायगा। इसलिये दु ख, दारिद्रय एव विघ्नों का स्त्रोत अशान्त, अस्थिर एव अपवित्र मन होता है।

यदि दु ख, दरिद्रता एव विघ्न बाधाएँ असाध्य रोग की तरह पीछे पडी रहती हैं तो मानना होगा कि मन की गतिविधि अत्यधिक विकृत है। क्योंकि मन का स्रोत जिस तरह का होगा, वैसा ही फल उससे फूटेगा। यदि व्यक्ति अपने आपको दरिद्री बनाना चाहता है तो दरिद्री बना सकता है– दुखी बनाना चाहता है तो दुखी बना सकता है, कारण उसके मन का निर्माण उसी रूप मे काम करेगा। किन्तु अपने मन की दिशा बदलकर वह चाहे तो धनाढ्य बन सकता है– सुखी और सम्पन्न बन सकता है। यह सब मनुष्य के हाथ मे है कि वह अपने मन को अपने अधीन लेकर चाहे तो अपनी बुद्धि और शक्ति का प्रयोग इस रूप मे करे कि वह शान्ति देने और शान्ति दिलाने वाला बन जाय।

वास्तव मे देखे तो दुख, दारिद्रय एव विघ्नो का स्रोत भी वही है तो सुख, सम्पन्नता एव शान्ति का स्त्रोत भी वही है। मन का जैसा रूप होगा, वैसी ही धारा उससे फूटेगी। मन में पवित्रता है तो अपने लिये मगलमय तथा दूसरो के लिये हितावह धारा फूटेगी और मन अपवित्र हुआ तो उससे दु ख, दरिद्रता तथा विघ्न ही बाहर निकलेगे।

यह मन कही बाहर नहीं है– अपने ही भीतर है। कई अज्ञानी लोग अपने दु ख, अपनी दरिद्रता एव अपने विघ्नो के लिये दूसरो को दोष देते हैं तथा उनसे बदला लेने पर उतारू होकर राग द्वेष मय या हिसामय रुख बना लेते हैं। इसके साथ ही वे अपने सुख और मगल को खोजने के लिये भी बाहर ही भटकते रहते हैं। यह 'गाव मे ढिढोरा और बगल में छोरा' वाली कहावत चरितार्थ करता है, क्योकि अपने सुख दु ख का कर्त्ता स्वय अपना मन होता है। इसलिये मूल स्रोत पर ध्यान दिया जाय तथा स्रोत पर ही उचित कार्यवाही की जाय तो आगे की बाते अपने आप ठीक हो जाती हैं।

अष्टसिद्धि और नव निधि का स्रोत भी वहॉ ही है।

मन ही का स्रोत है, जहॉ से दु ख और विघ्न भी फूटते हैं तो जहॉ से अष्टसिद्धि और नव निधि भी प्रकट हो सकती है। दिल और दिमाग मे विकारों की दुर्गंध भर कर रखे तो इस जीवन का छोटा एव क्षुद्र रूप दिखाई देगा तथा उसी दिल और दिमाग मे शान्ति और पवित्रता की सुगध भर दे तो यही जीवन विराट् एव प्रकाशमान बन जायगा।

अष्ट सिद्धियॉ एव नव निधियॉ, जानते हैं, कहॉ मिलती हैं ? क्या उनकी कोई खान है या कोई खजाना है ? वे कहीं सात समुद्र पार मिलेगी या किसी

ऊँचे पर्वत की गहरी गुफा में मिलेगी ? क्या भगवान् ने इनको अपने पास एकत्रित कर रखी है सो आप पर रीझ जायेंगे तो आपको दे देगे ? ये सिद्धियॉ और निधियॉ और कही नही, अपनी ही आत्मा मे दबी पडी है। कोई कुछ खुदाई करे– भावनाओ के गहरे तले में उतरे और ज्ञान के प्रकाश मे खोजे तो आत्म शक्ति की अष्ट सिद्धियॉ तथा आत्मानन्द की नव निधियॉ प्रकट हो जायगी।

जो अपने आत्मस्वरूप की गहराई में नही उतर पाता है, वह इनको दुनिया मे बाहर ही बाहर खोजता है। वह दुनिया को देखता है, दुनिया की ऊँची नीची अवस्थाओ को देखता है और खुद को हैरानी मे डाल देता है। ऐसा व्यक्ति कैसे अपने जीवन का उत्थान कर सकता है और कैसे शान्ति का अनुभव ले सकता है ? इसका यही उपाय है कि वह शान्तिनाथ भगवान् के स्वरूप को अपने मन मे उतारे और मन के स्रोत को ऐसा पवित्र बनादे कि उसकी धारा मे जब जीवन बहने लगे तो उसे अष्ट सिद्धि और नवनिधि का आत्मिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाय।

दूसरे के बुरे से पहले अपना बुरा, दूसरे के भले से अपना भला

प्रश्न यह है कि शान्तिनाथ भगवान् का शान्तिमय स्वरूप अपने मन में कैसे उतरे ? जब तक कोई अपने मन मे दूसरों का अहित करने की भावना लेकर चल रहा है, तब तक उससे फूटने वाली अशान्ति की आग से वह बच नहीं सकता है। उसके मस्तिष्क मे शान्ति तभी व्याप्त हो सकती है जब वह अहित करने की दुर्भावना को वहॉ से निकाल दे। दूसरो की अहित करने की दुर्भावना बनाने वाले व्यक्ति को सोचना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी जो इस ससार मे मानव के रूप मे आया है, साथ में अपने शुभाशुभ कर्मो को लेकर आया है। उसकी आत्मा के साथ सलग्न उसके पुण्य भी होते हैं तो उसके पाप कर्म भी होते हैं। उसका पुरुषार्थ बल भी उसके हाथ मे होता है। फिर प्रकृति का नियम यह है कि जो व्यक्ति जैसा कार्य करेगा, वैसा ही फल भी प्राप्त करेगा। ऐसी दशा मे क्यो किसी के अहित का चिन्तन किया जाय ? ध्यान रखें कि दूसरे का बुरा सोचेंगे, उसके साथ ही अपना बुरा होना तो शुरू हो ही जायगा।

दूसरे के बुरे से पहले अपना बुरा कैसे होता है ? दूसरे का बुरा करने का सोचा तो उस सोचने के साथ ही अपवित्रता से मन रग जाता है और विचारो के घात प्रतिघात से क्लेश पैदा हो जाता है। सामने वाला व्यक्ति भी यदि दुर्भावना का शिकार होगा तो उसका भी नुकसान होगा। लेकिन सामने वाला

व्यक्ति पहले वाले की बुरी भावना को जानकर भी अपनी भावना को बुरी नहीं होने देगा तो उसका मन काला नहीं बनेगा। जो बुरी भावना रखेगा, उसका बुरा परिणाम भी उसी को मिलेगा।

मैं इस विषय को स्पष्ट करने के लिये एक सरल सा रूपक दे दू। एक बच्चा दूसरे बच्चे को अच्छी पोशाक मे सजा हुआ देखकर सोचता है कि मैं उसकी अच्छी पोशाक को कीचड से भर दू। वह ऐसा सोचेगा तो उस की बुद्धि क्या सुझाव देगी ? उसकी बुद्धि का कीचड बाहर के कीचड की तलाश करेगा। वह गढ्ढे के पानी मे उतर कर कीचड इकट्ठा करेगा, तब पहले तो अपने ही पाव, हाथ और कपडे, कीचड से खराब करेगा। पहले तो अपना ही रूप-स्वरूप कीचड से बिगाड कर फिर दूसरे लडके की पोशाक पर कीचड डालने के लिये उसके पीछे भागेगा। उसको भाप कर अगर दूसरा बच्चा सुरक्षित स्थान तक भाग गया तो अपने कीचड से वही लिपटा हुआ खडा रह जायगा। दूसरा बच्चा नहीं भाग पाया तो पहला बच्चा उस पर कितना कीचड डाल पायगा या दोनों में कैसी गुत्थमगुत्थी होगी— यह अलग बात है। देखिये कि दूसरे का बुरा करने वाले ने पहले किसका बुरा किया ? पहले अपना बुरा करके फिर दूसरे का बुरा कर भी ले, तब भी कौनसी बुद्धिमानी कहलायगी ?

ऐसा न करके अगर पहला बच्चा दूसरे बच्चे की अच्छी पोशाक देखकर पूछे कि उसने उस पोशाक को तैयार करने मे कैसा पुरुषार्थ किया और फिर उससे प्रेरणा लेकर स्वय भी वैसा ही पुरुषार्थ करने का निश्चय करे तो कितना अच्छा हो। इससे दोनो के दिलो मे सद्भावना का सचार होगा। अच्छाई का अनुकरण होगा तथा दूसरे बच्चे के भले काम से पहले बच्चे का भी भला हो जायगा।

कीचड उलीचना छोडे,
सुगध लेना और सुगध देना सीखे

जैसी मन की स्थिति होगी और जैसा बुद्धि का प्रयोग होगा— दोनों तरह के काम किये जा सकते हैं। चाहें तो कीचड भी उलीच सकते हैं और चाहे तो अच्छाई देखकर उसका अनुकरण भी कर सकते हैं। कौन सा कार्य अच्छा लगता है— पहले वाला या दूसरा ? बताने से पहले मन में तोलिये कि किस कार्य से अशान्ति मिलेगी और किस कार्य से शान्ति का सचार होगा ?

आप महावीर प्रभु की वाणी श्रवण करने आये हैं शान्तिनाथ भगवान् के स्वरूप का स्मरण करने आये हैं सो चिन्तन करके बताइये कि उस बच्चे के मन

में शान्ति पैदा होगी जिसने कीचड से अपने हाथ भरे या उस बच्चे के मन मे शान्ति पैदा होगी जिसने अच्छी पोशाक बनाने के तरीके की जानकारी ली ? पहले के मन में ईर्ष्या थी, दूसरे के मन मे सरल कोमलता। ईर्ष्या दुर्गंध पैदा करती है और कोमलता से सुगध फैलती है। जहॉ स्नेह की सुगध होगी, वहॉ बुद्धि भी निर्मल रहेगी।

कोई विद्यार्थी गदगी मे रहता है तो वह सोचेगा कि परीक्षा के दिन तो इस गन्दगी से बाहर निकल कर कहीं उद्यान में जाकर अध्ययन करू तो फूलों की ताजी सुगध ही दिल और दिमाग को तरोताजा बना देगी। दिल मुलायम होगा और दिमाग तेज होगा तो फूलों की सुगध जरूर भीतर ही भीतर फैलेगी और रक्त धमनियों मे पहुँच कर सारे शरीर को विकार रहित व सुस्वास्थ्य वाला बना देगी।

अपने जीवन को सच्ची शान्ति से ओत प्रोत बनाना है तो दिल और दिमाग से दुर्गंध को साफ करलें। जिन अशों में आप विकारों को बाहर निकाल पायेंगे, उतनी ही स्वच्छता एव पवित्रता वहॉ फैलती जायगी। फिर वहॉ विनय, कोमलता एव स्थिरता से शान्ति की सुगध पैदा होगी जो चन्दन की सुगध की तरह बाहर को ही नहीं, भीतर को भी सुगधित बना देगी।

इसलिये जहा से भी सुगध मिले, आगे बढकर सुगध लीजिये और जब अपने आपको सुगध से सुवासित बना लें तो दूसरो को भरपूर सुगध दीजिये। मुक्त भाव से सुगध लेना और सुगध देना सीखले तो शान्ति का अमृत-पान अवश्य कर सकेंगे।



17

पंचभूत का मेल या आत्मा का खेल ?

शान्ति जिनेश्वर साहिब सोलमा
शान्तिदायक तुम नाम हो सौभागी।
तन, मन, वचन शुद्ध कर ध्यावता
पूरे सगलो काम हो सौभागी।

शान्तिनाथ भगवान् के चरणो मे अनेक कल्पनाओ को लेकर कवि उपस्थित हुआ है। इन कल्पनाओं में कवि ने भव्यजनो की भावनाओं को समाविष्ट किया है। भव्य आत्माएँ जब ससार के बीच में अनेक कष्टो एव विपत्तियो से घिर जाती हैं, उस समय वे अत्यधिक अशान्ति का अनुभव करते हुए व्यग्र हो उठती है। इस अशान्ति का शमन करने के लिये उन्हें एक अवलम्बन की आवश्यकता होती है और वह ऐसा अवलम्बन हो जो शान्ति से परिपूर्ण हो। परिपूर्ण शान्ति के दाता एव सम्पूर्ण शान्ति के अवलम्बन भगवान् शान्तिनाथ हैं।

ऐसे परमात्मा को किन शब्दो से– कैसी प्रार्थनाओं से तथा किस विधि से स्मरण किया जाय ? विधियाँ अनेक हो सकती हैं, किन्तु सही विधि वही होगी जिसके अनुसार परमात्मा का स्मरण करने से इस आत्मा को शान्ति मिले।

वास्तव मे शान्ति एक आत्मिक गुण है और यह शान्ति का स्वभाव आत्मा का निज स्वभाव होने के नाते मूलत प्रत्येक आत्मा में रहा हुआ है जो अनुभूतिजन्य है। यह जीवन– यह शरीर पिंड पचभूत का मेल मात्र है या इसमें आत्मा का खेल प्रकट हो रहा है– इसकी वास्तविकता हृदय मे उतरने पर ही अपनी अन्तरानुभूति का रसास्वादन लिया जा सकता है।

भौतिकता के पुजारियो की दौड कहाँ तक ?

कभी-कभी आधुनिक हवा के बहाव मे बहने वाले व्यक्ति अपने आपको भूल कर भौतिक तत्त्व को ही सब कुछ मानने लगते हैं। उनका दृष्टिकोण, उनकी भावनाएँ इस दृश्य जगत् तक ही सीमित बन जाती हैं। दीखने वाले पदार्थो के अन्तर्गत पाच भौतिक तत्त्व माने गये हैं जिन्हे पचभूत के नाम से पुकारा जाता हे। इन्हीं तत्त्वो से विविध पदार्थो की रचना होती है। भौतिकता के पुजारी यह मानते हैं कि यह जीवन और यह शरीर पिड भी पचभूत की रचना होती है। पचभूत के मेल से शरीर पिड बन गया, उसमे आत्मा आ गई– जीवन आ गया और जब तक पचभूत का मेल बना रहता है तब तक यह सब कुछ जीवन्त दिखाई देता है और जब यह मेल बिखर जाता है तो सब कुछ समाप्त हो जाता है। आत्मा एव शरीर के पृथक्-पृथक् होने की कोई बात नहीं है। जब तक यह शरीर पिड रहेगा तब तक यह आत्मा भी रहेगी। पिड के विसर्जन के साथ आत्मा का भी विसर्जन हो जायगा। आत्मा की शाश्वतता को तथा जन्म जन्मान्तर में उसके विचरण को वे नहीं मानते हैं।

इस एकान्त भौतिक मान्यता के कारण ही यह उक्ति प्रचलित हुई कि–"यावत् जीवेत् सुख जीवेत्, ऋण कृत्वा घृत पीबेत्"–अर्थात् जब तक जीना है, सुख से ही जीना चाहिये– चाहे कर्जा करना पडे तब भी घी पीकर सुख से ही जीना चाहिये। जो कुछ है यह जीवन है और जब यह चला जायगा तो कुछ भी नहीं बचेगा, इसलिये इस जीवन को सुख से भोगने को ही वे लोग अपना एक मात्र उद्देश्य कह देते हैं।

इन विचारो को सहसा कई भद्रिक भाई पकड लेते हैं। वे अपने स्वय के चिन्तन को गहरा नही बनाते तथा छिछले-छिछले रहकर भौतिकवादी मान्यता को मान लेते हैं। वे अपनी इस मान्यता मे आधुनिक विज्ञान को भी अपना आधार बनाते हैं, किन्तु किसी वस्तु स्वरूप पर वर्तमान के साथ भूतकाल एव भविष्य के परिप्रेक्ष्य मे सोचने की चेष्टा नहीं करते। त्रिकाल के सदर्भ में एव मुख्यत ऐतिहासिक दृष्टि से यदि ऐसे भाई विचार करे तो आत्म स्वरूप का अवबोध होने का प्रसग आ सकता है।

दृश्य ससार की अपेक्षा अदृश्य भाव जगत् का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है और भौतिकता के पुजारियों की उस क्षेत्र मे पहुँच नहीं होती है। इसलिये उनकी दौड कहाँ तक ? जहाँ तक ये चमडे की आखे देख सकती है– बस।

अध्यात्म का इतिहास एव वर्तमान वैज्ञानिक विकास

इतिहास जहॉ से प्रारभ होता है, आगम उससे भी पहले की परिस्थितियो पर प्रकाश डालते हैं। यदि आगमों की वीतराग देवों की वाणी को विशद् विवेचन के साथ ग्रहण करे तो समुच्चय मे ऐतिहासिक तथ्य, आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान से परामनोविज्ञान आदि की जानकारी हो सकती है। आगम एक प्रकार से ज्ञान के ऐसे विपुल भडार हैं जिनमे विभिन्न तत्त्वो का गहनतम रहस्य छिपा हुआ है। जीवन विकास के सभी पहलुओ का विश्लेषण भी इनमे है तो इन्ही से अध्यात्म का इतिहास भी जाना जा सकता है।

आज का युग वैज्ञानिक युग है। वर्तमान वैज्ञानिक इतिहास का प्रारभ भी प्लेटो और अरस्तू जैसे दार्शनिको से होता है जिन्होंने व्यक्ति की चेतना को प्रमुखता दी तथा व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को महत्त्व देने की बात कही। अभौतिक विषयो के वैज्ञानिक विश्लेषण में स्टेनबर्ग का नाम प्रमुख है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने इनके ग्रथ की भूमिका लिखी है। स्टेनबर्ग ने प्रकाश डाला है कि भौतिकता ही सब कुछ नहीं है– भौतिकता से ऊपर एक अभौतिक तत्त्व अवश्य है जिस पर गहरी शोध जरूरी है। इस अभौतिक तत्त्व से उसका अभिप्राय आत्मा से ही है। इस दृष्टि से यह मानना पडेगा कि अब तक अधिकाशत विज्ञान ने जो विकास किया है वह भौतिक तत्त्वों के सम्बन्ध मे ही किया है। अब उसकी शोध के विषय स्थूल से सूक्ष्म तत्त्व बनने लगे हैं तो इस वक्त आत्म स्वरूप की स्थिति– स्पष्टता के लिये आधुनिक विज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

मुख्यत ऐतिहासिक दृष्टि से तथा आगमो के प्रमाण सहित ही आत्मा के स्वरूप को समझना चाहिये। इसके लिये दार्शनिक की दृष्टि ही प्रमुख मानी जायगी, वैज्ञानिक का प्रयोग नहीं। वैज्ञानिक स्थूल तत्त्व के साथ प्रयोग कर सकता है– अदृश्य तत्त्व की समीक्षा उससे नहीं हो सकती। यह दार्शनिक की गभीर दृष्टि का कार्य होता है। अत वीतराग देवो ने अपनी जिस गभीर दार्शनिक दृष्टि से आत्मा जैसे सूक्ष्म तत्त्व की समीक्षा की है तथा उसके स्वरूप का जो विशद् वर्णन किया है, वह आगमो मे मौजूद है जिसका अध्ययन मनन करके अपने ज्ञान को सुस्पष्ट बनाया जा सकता है।

आत्म तत्त्व की सूक्ष्मता की जानकारी स्थूल दृष्टान्तो के जरिये

भौतिकवादियो की आत्मा के बारे में जो युक्ति है वह इस प्रकार है कि जैसे घडी के अलग-अलग पुर्जे आपस मे जुड गये तो उनके सयोग से टिक्-टिक् की आवाज पैदा हो गई। इसी प्रकार जब पचभूत का आपस मे सयोग हो जाता है तो दिल की घडी की टिक्-टिक् शुरू हो जाती है। पुर्जे बिखर जाते हैं तो टिक्--टिक् बन्द हो जाती है। न कोई आत्मा आती है, न कोई आत्मा जाती है। उनकी इसी दलील से आत्म तत्त्व की विद्यमानता एव उसके स्वरूप को सिद्ध किया जाय।

घडी के पुर्जे तो बेजान भौतिक होते हैं। ये पुर्जे अपने आप नही जुडते। एक घडीसाज अपने सामने सारे पुर्जे रखता है और उनको जोड कर घडी को बनाता है। तो घडी और उसकी टिक् टिक् के बीच में एक घडीसाज और आ जाता है। कौन सा पुर्जा कहॉ फिट करना है– इसका विज्ञान भी घडीसाज को होता है– स्वय पुर्जो को नहीं। सभी पुर्जे यथास्थान फिट हो, फिर चाबी की व्यवस्था हो, तब घडी की टिक्-टिक् शुरू होती है। एक बात और है कि घडी के टूट जाने या पुर्जो के बिखर जाने से घडीसाज टूट या बिखर नहीं जाता हे। वैसे ही तर्क के लिये मान ले कि पचभूत के सयोग से इस शरीर का निर्माण हो गया, किन्तु प्रत्येक भिन्न-भिन्न शरीर में भिन्न-भिन्न आकृतियॉ तथा अगोयाग आखिर किस घडीसाज ने लगाये ? प्रत्येक अग की अपनी शक्ति व्यवस्था किसने जमाई ? सारे शरीर पचभूत के सयोग से बन गये तो उनमें भिन्नता क्यों बन गई ? एक अग का एक निश्चित कार्य किसने निर्धारित किया ? क्यो आख से सुनना नहीं होता और नाक देख नहीं सकता ? भिन्न-भिन्न प्राणियो के भिन्न-भिन्न शरीरो की रचना क्या अपने आप हो गई ? एक ही स्थान पर पचभूत के सयोग के अलग-अलग परिणाम कैसे सामने आ गये ? ये और कई ऐसे प्रश्न हैं, जिनका भौतिकवादियो के पास कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है।

पचभूत के मेल मे आत्मा के खेल का विज्ञान भौतिक तत्त्व से परे के वैज्ञानिक का विज्ञान है। जैसे घडीसाज घडी रूप नही है, वह घडी से भिन्न है, उसी प्रकार विविध शरीरों की रचना एव प्रत्येक शरीर की शक्ति व्यवस्था शरीर से भिन्न उसके अपने कलाकार की व्यवस्था है। वह कलाकार अनुभूति से सचालन कार्य करता है। एक ही शरीर मे पाचो इन्द्रियॉ अलग-अलग विषयों का अनुभव लेती हैं, लेकिन सभी विषयो की अनुभूति लेने वाला वहीं भीतर बैठा हुआ

कलाकार है। वही कहेगा– मैंने देखा, वही कहेगा मैंने सुना, वही कहेगा– मैंने सूघा, वही कहेगा– मैंने चखा और वही कहेगा– मैंने छुआ। यह 'मैं' कौन है ? यही 'मैं' आत्मा है जो चैतन्य स्वरूप अभौतिक तत्त्व है।

आत्मा के अस्तित्त्व को समझने के लिये यह एक स्थूल दृष्टान्त और है। एक व्यक्ति मर गया, उसका मुर्दा शरीर पडा है। वह सुनता है क्या ? वह देखता है क्या ? जैसे आपके कान है, वैसे के वैसे मुर्दा शरीर पर भी कान लगे हैं, फिर वे क्यो नहीं सुनते ? तो मैं पूछू कि आत्मा कान से परे है या कान का रूप है ? कान का सुनना आत्मिक शक्ति के साथ था। वह शक्ति चली गई तो वैसा का वैसा कान भी बेकार हो गया। तो सही वस्तुस्थिति यह है आत्मा शरीर से भिन्न है। जब तब वह शरीर मे रहती है, कान से सुनाई देता है, आख से दिखाई देता है और सारा शरीर जीवन्त बना रहता है। आत्मा शरीर मे से निकली नही कि सारा शरीर– सारे अगोपाग वैसी की वैसी हालत मे होते हुए भी बेजान हो जाते हैं। फिर तो उस शरीर को घर मे भी नही रखते– उसकी अन्तिम क्रिया कर देते है।

ऐसे स्थूल दृष्टान्तो के जरिये भी अल्पज्ञान वालो को आत्म तत्त्व के सूक्ष्म स्वरूप की यथोचित जानकारी कराई जा सकती है।

आत्मा व परमात्मा के ज्ञान हेतु समुचित साहित्य की जरूरत

आप लोगो के साथ मेडता छात्रावास के छात्र भी बैठे हुए हैं। मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या वे आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का सही ज्ञान कराने वाला साहित्य भी पढते हैं ? उनके अध्यापक सुज्ञ ही होगे, लेकिन उनको ऐसा साहित्य कदाचित् ही पढने को मिलता हो। आत्मा और परमात्मा के स्वरूप की दृष्टि से अध्यापक वर्ग को पक्ष-विपक्ष का सारा साहित्य पढना चाहिये तथा अपनी हस-चोंच से दूध-दूध छाटकर अपने छात्रो को पिलाना चाहिये।

विद्यार्थी वर्ग भी अधिकतर आधुनिक साहित्य को पढता है– उसमे जो अच्छी बाते हो उन्हें वह जरूर ग्रहण करे लेकिन अच्छी बातो को समझने के लिये वैसी परख बुद्धि भी उसमे पैदा की जानी चाहिये। कारण, आजकल अधिकाश विद्वान् अक्षरी ज्ञान से ही युक्त होते हैं। उनमे न तो आन्तरिक दृष्टि होती है और न ही दार्शनिकता। इसलिये उनके द्वारा रचित ग्रथो को जब विद्यार्थी वर्ग पढता है तो वह यह समझ कर चलता है कि इन ग्रथो मे जो कुछ

लिखा है, वह सब सही है। इसलिये जब तक उसमे यह परख बुद्धि पैदा नहीं करेगे कि अमुक ग्रथ का लेखक कैसी भावना वाला है और उसने जो लिखा है वह किस तरग में लिखा है, तो उस की समझ मे काफी कचरा भी घुसता जायगा।

इसलिये आत्मा एव परमात्मा के स्वरूप-ज्ञान हेतु समुचित साहित्य की जरूरत है जो प्राथमिक तौर पर विद्यार्थी वर्ग को पढने के लिये दिया जा सके। वह साहित्य वीतराग देवो की तटस्थ वाणी के आधार पर प्रामाणिकता पूर्वक लिखा जाना चाहिये। जिसमे तर्क भी हो तो श्रद्धा भी हो और वे लेखक भी चन्द चादी के टुकडो के लिये ही न लिखे। उनकी अपनी आत्मानुभूति विकसित होनी चाहिये।

आत्मा अमर तत्त्व है तो पचभूत नाशवान होता है

आत्मा अमर तत्त्व है। वह अविनाशी है, लेकिन पचभूत तो जड होने से नाशवान होते हैं। आत्मा की अमरता के सम्बन्ध मे इसी जीवन के अनुभव का प्रमाण लीजिये। दस रोज पहले की बात आज आपको याद है कि नही ? आप कहेगे– याद है। बचपन मे घटित खास घटनाओ की वृद्धावस्था में याद रहती है या नहीं ? वह भी रहती है। कुछ बातें सहज ही में याद रह जाती हैं और कुछ बाते याद करने से याद आ जाती हैं।

बचपन जवानी मे बदल जाता है तो शरीर की अवस्था मे बडा परिवर्तन आ जाता है। जवानी से प्रौढावस्था वृद्धावस्था तक पहुँचने पर और भी परिवर्तन आ जाते हैं। शरीर के सभी परमाणु परिवर्तित होते रहते हैं, फिर क्या कारण है कि बचपन की बाते बुढापे में भी याद रह जाती है ? इसका कारण है कि शरीर की अवस्थाएँ तथा अगोपागो की शक्तियॉ बदलती रही हैं, लेकिन इन सबका सचालक तत्त्व एक सा बना रहा है, जिससे परिवर्तन के बावजूद भी स्मृति, ज्ञान आदि की एकरूपता बनी रहती है। यह आत्मा की अमरता का स्थूल बुद्धि की भी समझ मे आने वाला प्रमाण है।

जैसे शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं– वैसे काल की भी तीन अवस्थाएँ होती हैं। भूत, वर्तमान तथा भविष्य। भूतकाल मे आत्माएँ थी, वर्तमान काल मे आत्माएँ हैं तथा भविष्यकाल में आत्माएँ कायम रहेंगी यह शाश्वत सत्य है। आप आत्मा को प्रकट करना चाहे तो कर सकते हैं। आप कई बातो को प्रकट करते हैं, वैसे ही यह भी करे। कदाचित् किसी का यह प्रश्न आ जाय कि आत्मा को उसकी

हथेली पर रखकर प्रकट करे तो क्या उत्तर होगा ? आप विद्यालयों में शिक्षा पाते हैं, क्या उस शिक्षा को हथेली पर रखकर प्रकट कर सकते हैं ? फिर भी कोई हठ करे तो उससे पूछिये कि वह अपने जीवन के अनुभवो को हथेली पर रखकर बतावे। क्या कोई बता सकेगा ? प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार अपनी योग्यता को जानता है, अपने अनुभवों को जानता है, उसी प्रकार अपने भीतर की सावधानी से आत्म तत्त्व को भी प्रत्यक्षत जान सकता है।

आज तो विज्ञान की दिशा भी आध्यात्मिकता की ओर मुड रही है। आत्म तत्त्व की अनुभूति लेना चाहते हैं तो किस ज्ञान की सहायता से लेंगे ? आपको गौरवान्वित होना चाहिये कि आपके पूर्वजो ने जो विरासत दी है, उसमे शास्त्रों की महान् निधि मिली है। इन शास्त्रो के ज्ञान मे सभी तत्त्व भरे हुए हैं। इन तत्त्वो का उद्घाटन करे— अध्ययन और चिन्तन का ध्यान लगावे तो योग्यता एव अनुभव की तरह आत्मा की अनुभूति भी स्पष्ट प्रतीत होगी।

आत्म शक्ति एव आत्म गुणो की प्रतीति

प्रत्येक व्यक्ति के शरीर पिड में आत्मा रही हुई है। उसमे ऊँची से ऊँची शक्तियॉ हैं तो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ गुण भरे हुए हैं। पवित्रता और शान्ति का खजाना भी उसमें है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि आत्मस्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति ली जाय तथा उसकी शक्तियों तथा गुणो की प्रतीति ग्रहण की जाय। इस रूप मे इस जीवन को ठीक तरह से समझने की तैयारी करनी चाहिये। क्या आप तैयारी करेगे ? किसको समझना है ? इस जीवन को समझना है, लेकिन इस जीवन को तभी समझ सकेगे, जब पहले आत्मा को समझ लेगे।

अनुभव तो विद्यार्थी भी करते हैं। आपका छात्रावास कहॉ है ? मेडता में। अभी आपके सामने तो नहीं है ? अभी आपसे कोई कहे कि अपने छात्रावास का नक्शा खीच दो तो क्या खीच सकेगे ? आप यहॉ बैठे हैं और छात्रावास का मकान दीख नहीं रहा है, फिर कैसे खीच लेगे ? आप आख बन्द करके देखेंगे तो छात्रावास का मकान साफ दिखाई देगा और आप उसका नक्शा बना सकेगे। यह क्या है ? यही तो आत्म तत्त्व की महत्ता है।

आपके धन की तिजोरी कहॉ पडी है— यह यहॉ बैठे-बैठे भी आप देख लेते हैं या नही ? यह सब आप अनुभव कर रहे है। तो अनुभव करने वाला कोई बाहर का भौतिक तत्त्व नहीं है। यह अनुभव करने वाली, देखने वाली और देखे हुए को स्मृति पटल पर फिर से उभारने वाली यह अपनी ही आत्मा होती है।

उसके स्वरूप की अनुभूति लेने का ठीक से प्रयास करें तो वह आपको प्रत्यक्ष मिल सकती हैं। स्वरूप की अनुभूति मिल जायगी तो फिर आत्मा की शक्तियो तथा उसके अनेकानेक गुणो की स्पष्ट प्रतीति भी हो ही जायगी।

पचभूत का यह खेल
आत्मा के मेल से है।

भौतिकवादियो की मान्यता इस दृष्टि से सही नहीं है कि आत्मा का जो खेल है, वह पचभूत के मेल की वजह से है याने कि पचभूत के मेल से आत्मा जन्मी और उनका मेल बिखर जाता है तो आत्मा भी मर जाती है। वास्तविक अवस्था यह है कि जड तत्त्व होते हुए भी ससार में चारों तरफ पचभूत का जो खेल दिखाई दे रहा है, वह आत्मा के शरीर पिड रूपी जड तत्त्व मे मेल के कारण है। आत्मा चेतन तत्त्व है और जीव है। जीव मे ही जीवन के लक्षण होते हैं। जड तत्त्व अजीव होता है तथा अजीव मे जीवन नहीं होता है। शरीर भी जड पुद्गलो से बना हुआ होता है। फिर इन जड पुद्गलों की जो जीवन्त अवस्था दिखाई देती है, वह केवल आत्म तत्त्व के मेल के कारण । आत्म तत्त्व के साथ कर्म समूह के रूप मे कार्मण शरीर जो जड रूप होता है, सलग्न होता है तथा उसकी सलग्नता के परिणामस्वरूप यह चेतन तत्त्व जड शरीर पिड मे जन्म लेता है तथा जीवन के विविध दृश्य दिखाता है।

भारतीय दर्शन के मूल में इसी आत्म तत्त्व की महत्ता है। जिसकी आस्था इस तत्त्व मे होती है, वही अपने स्वरूप को, इस जीवन के निर्माण को तथा परमात्मा की अवस्था को भली प्रकार समझ सकता है। ऐसा ज्ञान जिसको हो जाता है, वह अपने कठोर आचरण से अपने जीवन को भी परमात्म तत्त्व की दिशा में अग्रगामी बना देता है।



जिज्ञासा का रसायन जीवन की प्रयोगशाला

अरहनाथ अविनाशी, शिव सुखलीधो।
विमल विज्ञान विलासी, साहिब सीधो।।

अरहनाथ परमात्मा को यदि हम सामने रखते हैं, उनके स्वरूप का चिन्तन करते हैं तो हमारा जीवन भी अरहनाथ के तुल्य बन जाता है। 'अरहनाथ' यह शब्द व्युत्पत्ति युक्त है। इसका अर्थ है कि जिनसे कुछ भी छिपा हुआ नहीं। 'रह' का अर्थ छिपाना होता है और 'अरह' का अर्थ न छिपना या छिपाना अर्थात् वे स्वामी जिनकी आत्मा से कोई भी पदार्थ छिप नहीं सकता है– जिनके ज्ञान से पदार्थों का अस्तित्व व स्वरूप भिन्न नहीं रह जाता है। ऐसा विमलज्ञान जिनको पैदा हो गया, वे अविनाशी परमात्मा हमारे वन्दनीय हैं।

प्रत्येक मानव के मन मे जिज्ञासा का भाव

प्रत्येक मानव के मन में जिज्ञासा का भाव होता है कि वह जो नही जानता है उसे जाने और सब कुछ जाने। विशेष रूप से विमलज्ञानी परमात्मा का स्वरूप जब उसके सामने आता है तो स्वाभाविक है कि उसकी जिज्ञासा वृत्ति तीव्र बन जाय ज्योही बालक गर्भ से बाहर आता है, वह आखे खोलकर देखता है। ज्यो-ज्यों वह बडा होता है, उस की समझ बढती है, वह ज्यादा से ज्यादा पदार्थों को देखता है, लेकिन उन पदार्थो के सन्दर्भ में जो वह नहीं देख पाता है तथा अन्यान्य नये पदार्थो के विषय मे अधिकाधिक जानने की उसकी जिज्ञासा जागती रहती है।

जिज्ञासा को ज्ञान पिपासा भी कह सकते हैं। जिज्ञासा जितनी तीव्र

बनती है, उतनी ही शोधवृत्ति भी तीव्र बनती है। जिज्ञासा और शोध का जब तालमेल बैठ जाता है तो नये ज्ञान के पट भी खुलते जाते हैं। ज्ञान शक्ति अन्य प्राणियो से मानव की विशिष्ट होती है और उसके अनुसार मानव की जिज्ञासा वृत्ति भी विशेष महत्त्व रखती है। पर्दे की आड मे क्या है, दीवार की ओट मे कौन रह रहा है, पहाड के परले किनारे कौनसी वस्तु है, गगन के सितारो मे कौनसा तत्त्व छिपा हुआ है, मगल या बृहस्पति ग्रह मे कैसा वातावरण है आदि-आदि ज्ञान के अनेक विषय हैं जिनके क्षेत्र में आगे से आगे बढकर अधिक से अधिक जानने की मानव इच्छा करता है। वह केवल इच्छा ही करके नहीं रह जाता है, बल्कि अपनी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु तन्मयता से प्रयत्नरत भी बनता है।

जिज्ञासा और शोध
पुरुषार्थ और परिणाम

न जाने हुए को जानने की जिज्ञासा जब प्रबल होती है, तब मानव शोध मे प्रवृत्त होता है। शोध का अर्थ है खोज। शोध बैठे-बैठे नहीं होती, उसके लिये सभी प्रकार का पुरुषार्थ जुटाना पडता है और जो शोध मे पुरुषार्थ के साथ गहरे उतरते हैं, उन्हें उसके सुपरिणाम भी प्राप्त होते हैं। शोध के परिणामस्वरूप अनुसधान भी होता है तो अन्वेषण भी सामने आता है। किसी पदार्थ या तत्त्व के विषय में जो ज्ञान पहले प्रचलन मे नहीं था– शोध से उसे भी जाना जाता है तो शोध के बल पर नये पदार्थ या नये तत्त्व को भी जन्म मिल सकता है जिसका उस रूप मे विश्लेषण पहले प्राप्त नहीं था।

आज भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे मानव बहुत आगे बढ रहा है– यो कहिये कि वह धरती से ऊपर उठकर आकाश और अवकाश गमन कर रहा है। जहॉ तक भौतिक दूरी में मानव पहुॅच सकता है, वहॉ तक वह पहुॅच रहा है और जहॉ तक वह अभी तक नहीं पहुॅच पाया है, वहॉ तक पहुॅचने के लिये वह सघर्ष कर रहा है। वह दूरियॉ नापने के यत्रो का अपनी प्रयोगशालाओ मे निर्माण करता है, उनकी कुशलता की जाच करता है और फिर उनकी सहायता से आकाश की दूरियों मे उडता है। फिर उन क्षेत्रो के चित्र लिये जाते हैं, वहॉ के तापमान का अकन किया जाता है और सभी प्रकार के नये क्षेत्रो के बारे में अधिक से अधिक जानकारी एकत्रित करने की चेष्टा की जाती है। उनसे अनुसधान करके नवीन ज्ञान के द्वार खोले जाते हैं।

शोध मे ऐसे कठिन पुरुषार्थ को नियोजित करने वाली शक्ति जिज्ञासा की शक्ति होती है। यह शक्ति कोई आधुनिक काल मे ही प्रकट हुई हो ऐसी बात

नही है। अनादिकाल से जिज्ञासु आत्माएँ ज्ञान के सभी क्षेत्रों मे न्यूनाधिक रूप से सही किन्तु शोध और पुरुषार्थ का क्रम सचालित करती रही है। शोध और पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप पहले भी नये आविष्कार और नये अनुसधान सामने आते रहे हैं। जब कभी भी आविष्कर्त्ताओ ने गहरी खोजे की तो दुनिया को चकित करने वाले परिणाम भी सामने आये। ये परिणाम दोनो प्रकार के तत्त्वो को सामने लाये। ऐसे तत्त्व भी सामने आये जिनसे मानव जाति को विकास की नई नई सुविधाएँ मिली तो ऐसे तत्त्व भी सामने आये जिन के बल पर मानव जाति के अस्तित्व को ही नष्ट किया जा सके। सृजनात्मक पदार्थ भी खोजे गये तो सहारात्मक पदार्थ भी निर्मित हुए। भयकर शस्त्रास्त्रो का निर्माण– यह आज के भौतिक विज्ञान का घातक दुष्परिणाम भी सामने है।

आधुनिक काल के दो विश्व युद्धों पर ही विचार करे तो विज्ञान के इस घातक पक्ष का भीषण चित्र अकित हो जाता है। परमाणु विज्ञान की खोज मे जर्मनी ने पहल की, लेकिन उसी जानकारी की सहायता से अन्य शक्तिशाली देशो ने उसी देश और उसी देश के वैज्ञानिको को ही तहस नहस कर दिया। जापान की क्या दुर्दशा हुई– यह सभी जानते हैं। आज भी अणु आयुधो का कितना बडा खतरा आज की दुनिया के माथे पर मडरा रहा है ? बडे देशो ने कितने अणु अस्त्रो का भडार जमा कर रखा है और क्या कोई कह सकता है कि कब महाविनाश का बिगुल बज जाय ?

भौतिक विज्ञान जहाँ हारता है वही अध्यात्म-विज्ञान का कार्यारभ

वैज्ञानिक तो जिज्ञासावश शोध करता है, अपना पुरुषार्थ लगा कर तथ्यो को जैसे वे होते हैं या कार्य करते हैं, उसी रूप मे प्रकट करता है तथा उनके परिणामो का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। लेकिन उस जानकारी को राजनीतिज्ञ पकडता है–प्रशासक पकडता है और वह उसका उपयोग व्यापक जनहित में न करके अपनी सत्ता की रक्षा मे करना चाहता है। वैज्ञानिक का उस पर कोई नियत्रण नही होता है बल्कि सही तो यह है कि एक वैज्ञानिक को एक सत्ताधीश के नियत्रण मे तथा कई बार उसके निर्देशों के अनुसार अपना शोधकार्य चलाना होता है। इस प्रकार जो जिज्ञासा शुद्ध थी– जो शोध शुद्ध थी अथवा जो पुरुषार्थ भी शुद्ध था, उन तीनों के परिणामों का अशुद्ध उद्देश्यो के लिये उपयोग हो जाता है। यह दुरुपयोग है, फिर भी दुरुपयोग होता आया है और विज्ञान के विकास का सफेद पक्ष काला बनता आया है। इसी बिन्दु पर

आज का भौतिक विज्ञान हार जाता है।

जो विज्ञान अपने परिणामो को मानव हित मे प्रयुक्त नहीं करवा पाता, वही उसकी पराजय है। विज्ञान के नये आविष्कारो एव अनुसधानो का उद्देश्य यही रहता है कि उनसे पिछडी हुई सारी मानवता का उद्धार हो– उसका ज्ञान-विज्ञान समृद्ध बने तथा मानव-मानव परस्पर परम सौहार्द्र एव सहयोग भावना से साथ-साथ रह सके एव सही दिशा मे उन्नति कर सके। यह उद्देश्य यदि बिगाड दिया जाता है और उस वैज्ञानिक विकास को उसी मानवता के विनाश मे प्रयुक्त किया जा सकता है तो यह सारी जिज्ञासा और शोध की हार हो जाती है।

किन्तु जिस बिन्दु पर भौतिक विज्ञान हार जाता है, उसी बिन्दु से सच पूछे तो सर्वोच्च विज्ञान– अध्यात्म विज्ञान का कार्य आरभ होता है। उसी जिज्ञासा, उसी शोध और उसी पुरुषार्थ की तब दिशा बदलने की आवश्यकता होती है। वे जब तक भौतिकता के क्षेत्र में कार्यरत थे तो भौतिक तथ्यों का उद्‌घाटन करते थे, लेकिन आत्मिक नियत्रण के अभाव मे भौतिक उपलब्धियो की सुरक्षा एव उनका सदुपयोग सभव नही बना। यदि उसी जिज्ञासा, उसी शोध एव उसी पुरुषार्थ को अध्यात्म विज्ञान की गहराई में उतार दिया जाय तो इसमें कोई सदेह नही कि ये तत्त्व वहाँ भी सफलता प्राप्त करेगे तथा नई उपलब्धियाँ सामने लावेंगे। ये सफलताएँ और उपलब्धियाँ आन्तरिक जगत् से सम्बन्धित होगी तो वे पहले आन्तरिक जगत् में ही नवीन परिवर्तन ला सकेगी। वे मानव के हृदय को आन्दोलित एव सशोधित करेगी और ऐसा वातावरण बना देगी कि किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थ का दुरुपयोग न किया जा सके– मानवता का अहित सभव न बन सके।

तब दोनों क्षेत्र– भौतिक एव आध्यात्मिक मानवता की सेवा मे ही नियोजित किये जा सकेंगे। तब दोनों विज्ञान एक दूसरे के पूरक भी बन जायेंगे।

अध्यात्म विज्ञान मे जिज्ञासा, शोध व पुरुषार्थ के चमत्कार

भौतिक विज्ञान के सारे क्रियाकलाप बाहर दिखाई देते हैं। इसमें विविध प्रकार के पदार्थ व रसायन होते हैं, जिन पर विविध यत्रो से परीक्षण किया जाता है तथा प्रयोग द्वारा परिणाम प्राप्त किये जाते हैं। इसके लिये बडी-बडी प्रयोगशालाएँ होती हैं। लेकिन अध्यात्म विज्ञान के सारे क्रियाकलाप तो भावना के जगत् मे चलते हैं। इसमें रसायन होते हैं– जिज्ञासा, शोध, पुरुषार्थ आदि,

जिनका परीक्षण किया जाता है, सम्यक् दृष्टि, विवेक, आचरण, सत्य आदि के यत्रो पर और उसके परिणाम प्राप्त होते हैं ससार के व्यवहार में पवित्रता, नैतिकता, शान्ति आदि के रूप मे। इस विज्ञान की वृहद् एव विशाल प्रयोगशाला भी है। यह प्रयोगशाला है जीवन की प्रयोगशाला, जिसमें व्यक्ति का जीवन भी आता है तो सामूहिक जीवन भी आता है। यह जीवन ही कर्म क्षेत्र होता है, जिसमे इस अध्यात्म विज्ञान के नये-नये आविष्कार और नये-नये अनुसधान अपनी-अपनी जिज्ञासा, शोध तथा पुरुषार्थ शक्ति के बल पर सामने लाये जा सकते हैं।

भौतिक विज्ञान की प्रगति को देखकर कभी-कभी मनुष्य आश्चर्य करता है कि ऐसा युग अभी ही आया है, पहले कभी नही आया। लेकिन इस दृष्टि से भी सोचे तो इससे भी अच्छे युग पहले आये हैं और चले गये तथा आगे भी ऐसे युग आयेगे और चले जायेगे। प्राचीन कथा साहित्य मे आप सुनते होंगे कि पहले भी विद्याधर लोग विमानो मे यात्रा करते थे। ऐसे शस्त्रों का भी निर्माण होता था जो एक साथ कई लोगो को सम्हाल लेते थे। प्रद्युम्न कुमार नामक विद्याधर ऐसी कई कलाओ का धनी था। कथा भाग मे वर्णन आता है कि मेणरया महासती को विमान मे बिठाकर मुनिराज के पास ले जाने वाला यही विद्याधर था। कई तरह की विद्याओं के जानने वाले मानव को विद्याधर कहा करते थे।

इसलिये यह न समझे कि पहले महापुरुषो ने अध्यात्म विज्ञान के क्षेत्र में ही उन्नति की और भौतिक विज्ञान का विकास तो इसी युग मे हुआ है। इस विज्ञान के आविष्कार पहले भी थे। किन्तु इस सत्य को स्वीकार करना होगा कि वैज्ञानिक न तो ससार की सूक्ष्मता से पूरी खोज कर सकते हैं और न ही वे ससार के व्यक्तियों के हृदय मे नैतिक परिवर्तन ला सकते हैं। यह कार्य दार्शनिक और साधक ही कर सकते हैं तथा उनका मार्गदर्शक अध्यात्म विज्ञान होगा। इसी विज्ञान के स्वामी सारे ससार को तथा ससार के सारे पदार्थो व तत्त्वो के स्वरूप को हाथ मे रखे आवले की तरह परम स्पष्टता से देख सकते हैं। ऐसा करना किसी भौतिक वैज्ञानिक के वश की बात नही हो सकती है।

अध्यात्म विज्ञान के क्षेत्र में जब जिज्ञासा, शोध एव पुरुषार्थ की त्रिवेणी का बल लगता है तो उसके चमत्कारिक परिणाम सामने आते हैं। यह कोई आश्चर्यजनक बात नही है। अनेक विभूतियों ने इस क्षेत्र मे जो सर्वोच्च विकास सम्पादित किया तथा ज्ञान की ऊँचाइयो पर पहुँच कर ससार को जो दार्शनिक मार्गदर्शन दिया, उसका ससार के सभी दर्शनो में महत्वपूर्ण स्थान है। जिज्ञासा का रसायन इतना प्रभावशाली होता है कि जब जीवन की प्रयोगशाला में इस

रसायन पर परीक्षण किया जाता है तो वास्तव मे चमत्कारपूर्ण परिणाम सामने आ सकते हैं।

जीवन की प्रयोगशाला मे परीक्षणो का प्रयास

अध्यात्म विज्ञान की साधना किसी भौतिक प्रयोगशाला मे नही की जाती है। इस साधना के लिये पूरा जीवन ही एक प्रयोगशाला का रूप होता है। जीवन की प्रयोगशाला मे भावात्मक रसायनो के साथ सयम और तप की आग में जब यह आत्मा तपती है, तब उसका स्वरूप निखरता है। तब जीवन सुसज्जित बनता है। भगवान् अरहनाथ ने भी जीवन की प्रयोगशाला मे अपने जीवन को सजाया तथा विमलज्ञान को उपलब्ध किया।

जीवन की प्रयोगशाला मे अध्यात्म विज्ञान के परीक्षणों का प्रयास करने को जब जिज्ञासु मानव तत्पर बनता है उसको अपनी दृष्टि तथा कार्य विधि अति सूक्ष्मता मे ढालनी होती है। अध्यात्म विज्ञान के समान सूक्ष्म विज्ञान और कोई विज्ञान नहीं होता। इसी सूक्ष्म स्वरूप के कारण ही आत्मा का साक्षात्कार केवल अध्यात्म विज्ञान की सहायता से ही सभव हो सकता है। आत्मस्वरूप की पहिचान कराने वाला विज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ कहा जायगा क्योकि मूल मे तो सभी विज्ञानो की ज्ञाता तथा सचालिका यह आत्मा ही होती है। आत्म स्वरूप इतना सूक्ष्म होता है कि जो इसको जान लेता है, वह इस ससार की सारी वस्तुओ का स्वरूप भी जान लेता है। फिर उससे इस दुनिया में छिपा हुआ कुछ नहीं रहता। अणु परमाणु की एव भूत वर्तमान तथा भविष्य की समग्र गति को और उसकी समस्त पर्यायो को इस आत्मिक विज्ञान की ऊँचाई पर चढकर देखा जा सकता है। जो इस आत्मिक विज्ञान की ऊँचाई तक पहुँच जाता है, वही अविनाशी बन जाता है और अरहनाथ हो जाता है।

अगर आपको भी अविनाशी बनना है तो जीवन की प्रयोगशाला मे आत्मिक विज्ञान के परीक्षण प्रारभ कर दीजिये। अविनाशी बनना है तो अविनाशी विज्ञान की साधना करनी ही पडेगी। इस साधना की विधि अरहनाथ परमात्मा ने बताई है और सभी तीर्थंकर तथा वीतराग देवो ने बताई है। इस विधि के द्वारा परीक्षणो का प्रयास किया जायगा तो निश्चित रूप से उन परीक्षणो के माध्यम से विविध आध्यात्मिक शक्तियो का आविष्कार होगा। हॉ, परिणाम चमत्कारिक निकले– इसके लिये जिज्ञासा तीव्र होनी चाहिये, शोध में पूरी लगन लगनी चाहिये तथा कर्मठ पुरुषार्थ का प्रवाह फूट पडना चाहिये। यदि ऐसा कर सकेंगे

तो इन आध्यात्मिक परीक्षणो एव परिणामो के सामने भौतिक उपलब्धियाँ मूल्यहीन सी दिखाई देगी।

भौतिक उपलब्धियॉ एव आध्यात्मिक शक्तियॉ

प्रत्येक मानव की ऐसी कामना अवश्य ही रहती है कि मैं जानू, देखू और परखू, किन्तु इस कामना की पूर्ति का सबसे बडा रोडा उसके सामने आता है उपयुक्त साधनों के अभाव के रूप मे। यदि आवश्यक साधनो एव शक्तियो का सयोग उसे प्राप्त हो जावे तो वह साहसिक प्रयासो के लिये भी तैयार हो जाता है। विमान का सहारा मिल जाय तो वह आकाश मे उड जाता है और उससे भी आगे भारहीनता वाले अवकाश क्षेत्र में भी चला जाता है।

तो भौतिक साधनो द्वारा मानव ने, इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई भौतिक उपलब्धियॉ भी प्राप्त की है, लेकिन इन सारी उपलब्धियों के बावजूद भी मानव आखिर कितना जान सका है ? सच पूछे तो समुद्र में एक बूद के जितना भी नहीं। जिस आत्मा की आध्यात्मिक शक्तियॉ प्रस्फुटित हो जाती हैं तो जब वह केवल ज्ञान की प्राप्ति करती है, उस समय के उसके अनन्त ज्ञान के समक्ष यह सब भौतिक ज्ञान वास्तव में समुद्र मे एक बूद के समान ही तो होता है। यदि आप आध्यात्मिक विमान में बैठ जाय जो अन्त करण के आकाश में उडानें भरता है तो फिर न हिमालय के चोटी ऊँची दिखाई देगी और न चन्द्रलोक मे पहुँचने की इच्छा होगी। उस विमान में बैठने की कला आ गई और उसकी गति से तालमेल बैठ गया तो फिर आपको शरीर से कही भी भटकने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

आध्यात्मिक विमान मे जब बैठ जायेंगे तो किसी ग्रह तक जाने की जरूरत नहीं होगी। आपको अपने स्थान से ही वे ग्रह और ससार का प्रत्येक वस्तु स्वरूप सुस्पष्ट दिखाई देगा। मगल ग्रह मे रहने वाले प्राणी जिस रूप में मगल ग्रह को नही देख पाते, उससे भी अधिकतम सुस्पष्टता के साथ एक आत्म ज्ञानी मगल ग्रह को तथा सारे ब्रह्माड को देखता है। आध्यात्मिक विज्ञान मे यह सब अन्तर्दृष्टि से दिखाई देता है जो महान् शक्ति होती है। इस शक्ति के सामने शारीरिक शक्तियो की बाधा भी निरर्थक हो जाती है। एक आध्यात्मिक वैज्ञानिक के भले ही नेत्र बन्द हो या कान की खिडकियॉ रूधी हुई हो अथवा हाथ पैरो को लकवा हो रहा हो, फिर भी वह एक स्थल पर बैठकर अपनी आन्तरिक शक्ति एव अन्तर्दृष्टि की सहायता से सारे ससार को–समस्त जड चेतन प्रवृत्तियो को एक साथ देख लेगा तथा देखता रहेगा। ऐसा चमत्कार भौतिक उपलब्धियो के

बल पर नहीं, बल्कि आध्यात्मिक शक्तियों के प्रभाव से ही प्रत्यक्ष दिखाई दे सकता है।

अध्यात्म विज्ञान के परिणाम चमत्कारिक होते है

आप नोखामडी मे रहते हैं तो नोखामडी को देखते ही होगे। नोखामडी का जितना क्षेत्र है, आपने देख लिया है क्या ? कई भाई ऐसे भी होगे जो सभी घरो मे घूम आये होगे और कोई नही तो मत लेने वाले तो पहुँचे ही होगे। लेकिन वहाँ जाकर उन्होने क्या देखा ? उन मकानो मे रहने वाले सभी व्यक्तियो को भी नहीं देखा होगा तो घर की सभी वस्तुओं को भी वे नहीं देख पाये होगे। कोई व्यक्ति कितना ही प्रयत्न करे तब भी वह नोखामडी की सभी चीजो को नहीं देख पायगा। वह ऊपर की जमीन देख भी लेगा तो नीचे तह मे क्या है– उसे नही देख सकेगा। दीवार देख रहा है, मगर उसके अन्दर क्या है– वह नहीं देख पायगा। आखिर सामान्य व्यक्ति उतना ही तो देख पायगा जितना देखने की इन चर्मचक्षुओं की क्षमता है। सब कुछ तो वे देख सकते हैं जिनके ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं और जो उच्च विमलज्ञान प्राप्त करके अपनी ज्ञान दृष्टि मे ससार का सब कुछ एक साथ देखने की अपूर्व क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। विमलज्ञान की आख खुल जाय तो नोखामडी के चक्कर लगाने की जरूरत नही– वह एक कोने मे बैठकर भी पूरी नोखामडी को देख लेगा। अपने ज्ञान के विस्तार के अनुसार पूरे हिन्दुस्तान का अणु-अणु भी वह देख सकेगा और जो अपने ज्ञान की विमलता को उच्चतम बिन्दु तक पहुँचा दे तो सम्पूर्ण ससार को देखने की क्षमता भी उसे प्राप्त हो सकती है। आज के युग मे भी अवधिज्ञान का धारक समस्त रूपी पदार्थो को देखने की क्षमता पा सकता है।

अध्यात्म विज्ञान के परिणाम बडे चमत्कारिक होते हैं, किन्तु इनका चमत्कार तभी समझ में आवेगा, जब जीवन की प्रयोगशाला मे जिज्ञासा का रसायन खूब प्रयोग मे लाया जाय। जितनी व्यापक जिज्ञासा जागती है, जीवन में पुरुषार्थ भी उतना ही बलशाली बनता है, लेकिन इसके साथ अध्यात्म विज्ञान के प्रति प्रबल आस्था भी होनी चाहिये। यही ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना है तथा मुक्ति की साधना है।

जीवन की प्रयोगशाला के आध्यात्मिक शोध कर्त्ता

शास्त्रकारो ने जीवन की प्रयोगशाला मे आध्यात्मिक शोधकर्त्ता एव विमलज्ञान के रास्ते पर चलने वाले साधक के प्रारभिक लक्षण बताये हैं कि वह पाप का प्राक्षेपण करने वाला नहीं होगा अर्थात् दूसरो पर पापपूर्ण आक्षेप नहीं लगायगा। प्राक्षेपण का अर्थ होता है फैंकना और फैंकता वही है जो पहले अपने पास जमा कर लेता है। जैसे किसान खेत मे पक्षियो को भगाने के लिये गोफन से पत्थर फैंकता है तो पहले पत्थर अपने पास जमा कर लेता है। इसी प्रकार जो दूसरो पर आक्षेप या दोष लगाता है, वह पहले दोषों का सचय कर लेता है। मन मे दोषो का भडार भर कर वह फिर उन पत्थरो को वचन के 'गोफन पर लगाकर फैंकता है तो वह कितने नये पापों का भी सचय कर लेगा। अत सबसे पहले अपने द्वारा पाप के प्राक्षेपण को बन्द कर दे। इससे मलिनता मिट जायगी तो विमलता का विस्तार होगा। ऐसा कार्य आध्यात्मिक शोधकर्त्ता अपने आत्मिक पुरुषार्थ से ही कर सकता है।

आध्यात्मिक शोधकर्त्ता कभी अपने मित्रों पर कोप नहीं करता है– अपने साथियो के साथ वैमनस्य नही रखता है। सबके साथ उसका सहानुभूति का व्यवहार होता है। अपने मित्र का कोई दोष देख भी लेगा तो उसके लिये वह उसे एकान्त मे स्नेह पूर्वक चेता देगा। वह अपने दिल मे स्वच्छता रखेगा– किसी के प्रति भी मलिनता नहीं। जब सवत्सरी जैसा अवसर आयगा तो वह सभी आत्माओ के साथ भावपूर्वक क्षमायाचना करेगा। इससे वह अपनी अपूर्व आत्म शुद्धि कर लेता है।

यह शोध का ही सुपरिणाम होता है कि उसे शुद्धि प्राप्त होती है। शुद्धि से शान्ति और शान्ति से जो आन्तरिक आनन्द मिलता है, वही आध्यात्मिक वैज्ञानिक की परम उपलब्धि होती है। क्या आप भी जिज्ञासु हैं ? यो ही कभी कुछ पूछ लेते हैं या भीतर से जानने की इच्छा भी जागती है ? जिज्ञासु बनिये तो शोध करेगे– पुरुषार्थ करेंगे और नया-नया ज्ञान प्राप्त करेगे।

प्रयोगशाला का सर्वोच्च परिणाम समता का सर्वश्रेष्ठ विकास

जीवन की प्रयोगशाला का सर्वोच्च परिणाम यही आना चाहिये कि समता का सर्वश्रेष्ठ विकास सम्पादित कर लें। इस सम्बन्ध मे एक प्रसग याद आ गया

है। एक बार महावीर प्रभु का समवशरण लगा हुआ था और सारी परिषद् जुडी हुई थी। राजा श्रेणिक भी वहाँ बैठे थे। तभी एक ऐसे पुरुष की तरफ सबकी उत्सुक दृष्टि गई जिसके सारे शरीर से कोढ का पीप झर रहा था और जो बिना कुछ देखे सीधा महावीर तक पहुँच गया तथा उनके चरणो मे अपने माथे को रगडने लगा। सभी की भौहे तन गई, मगर महावीर तो परम समता के भाव से उसे देख रहे थे। तभी उसने महावीर को कहा— शीघ्र मरो। श्रेणिक को कहा— चिरजीव रहो। वहीं अभयकुमार बैठे थे, उनको कहा— चाहे जीओ, चाहे मरो। पीछे बैठे एक कसाई को कहा— न जीओ, न मरो। और वह ऐसा अन्तर्धान हुआ कि सब देखते ही रह गये।

सबकी जिज्ञासा वृत्ति प्रबल हो गई तो महावीर प्रभु ने समाधान किया। उन्होंने कहा— वह कोढी नहीं, वैसा रूप धर कर देव आया था। मुझे मरने का कहकर उसने मेरे शीघ्र मोक्ष की कामना की। श्रेणिक के दीर्घजीवन की उसने इसलिये कामना की कि यहाँ से मरकर उन्हें नरक भोगनी है। अभयकुमार सम्यक् दृष्टि आत्मा है— निर्लिप्त है सो यहा रहे या आगे जावे— सभी तरफ आनन्द ही आनन्द है। कसाई को कहा कि न यहाँ शान्ति और न वहाँ शान्ति है सो गोते खाता रहे।

इस प्रसग का अभिप्राय यह है कि जब जीवन की प्रयोगशाला मे महावीर प्रभु ने सर्वोच्च परिणाम पा लिया तो वे समता के सर्वश्रेष्ठ साधक बन गये तथा सर्वोच्च ज्ञान के धनी बन कर जिज्ञासाओ की सम्पूर्ति करते रहे। क्या आप भी महावीर बनना चाहते हैं ? यदि हाँ तो जीवन की प्रयोगशाला मे उतर जाइये तथा जीवन को निखार लीजिये।



19

नारी भी मोक्ष की अधिकारिणी होती है।

मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी रे
कुम पिता परमावती मैया,
तिन की कुवारी।
मॉ नी कूख कदरा माही,
उपना अवतारी।
मालती कुसुम माल नी वाछा
जननी उर धारी। मल्लि

प्रभु की प्रार्थना के प्रसग से भगवान् मल्लिनाथ को हम वन्दन कर रहे हैं। इस भारत भू पर मल्लिकुमारी ने तीर्थंकर पद तक आत्मोन्नति करके नारी जाति का एक विशिष्ट आदर्श उपस्थित किया। योग्यताओ और क्षमताओ मे, जिन लोगो का यह विश्वास है कि पुरुष की तुलना मे नारी उतनी उन्नति नहीं कर सकती है, मल्लिनाथ भगवान् ने उस झूठे विश्वास को खडित कर दिया। उन्होने उस विश्वास को भी खडित कर दिया जो यह मानते हैं कि नारी और कैसी भी उन्नति करले मगर मोक्ष मे नहीं जा सकती है।

तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्वय का आदर्श जीवन इस सत्य का पुष्ट प्रमाण है कि पुरुष ही के समान नारी भी मोक्ष की अधिकारिणी होती है।

मानव जाति मे भेद तथा विभिन्न धर्मों की मान्यता

मानव जाति के बीच में विभिन्न मत और भेद चलते आ रहे हैं। विभिन्न धर्मो की मान्यताए तथा परम्पराऍ भी यत्र तत्र सर्वत्र दृष्टिगत हो गई लेकिन परीक्षा बुद्धि की यह जानने की समस्या है कि कौनसा धर्म वास्तविक सत्य को

स्पर्श करने वाला है तथा कौनसा धर्म सत्य का आडम्बर लिये बैठा है ? किस धर्म के सिद्धान्त सर्वज्ञ प्रणीत है तो किस धर्म के सिद्धान्तो की रचना दभ के फलस्वरूप हुई है ? किस धर्म में अलग-अलग प्राणियो का क्या-क्या स्थान है और कौन सा धर्म मानव जाति मे भेदभाव की दीवारें खडी करता है ? किन मान्यताओ एव परम्पराओ मे समभाव का रस घुला हुआ है तो कौनसी मान्यताएँ एव परम्पराएँ राग द्वेष के आधार पर ही जन्मी हैं ? कहाँ मनुष्यता का समादर है तो कहाँ छोटे छोटे वर्गो तथा समूहो की पीठ थपथपाई गई है ? इन विषयो पर सहज भाव से चिन्तन किया जायगा एव परीक्षा बुद्धि से काम लिया जायगा तो सहज ही ज्ञात होगा कि जिन अपूर्ण व्यक्तियो ने राग द्वेष की कुटिल वृत्तियो के साथ कोई मत या पथ चलाया तो उसने मानव जाति को टुकडो में बाटने की ही चेष्टा की ताकि मानवता का हित हो या न हो, उसका वर्चस्व बराबर चलता रहे। इसके विपरीत सम्पूर्ण मानव जाति की समता और समानता के रूप मे अद्‌भुत वैज्ञानिकता जैन धर्म ने इस विश्व में अपूर्व रूप से प्रस्तुत की है।

यहाँ अभी जिस भेद के बारे मे मुख्य रूप से विचार किया जा रहा है, वह भेद है नारी और पुरुष का। कई धार्मिक मान्यताओ ने भी यह बताया है कि धर्म का आचरण पुरुष ही कर सकते हैं, बहिने नही। अमुक ग्रथो का पाठ पुरुष ही कर सकते है, बहिने नही। यहाँ तक कि मोक्ष के अधिकारी भी पुरुष ही है, बहिने नही। ऐसी भी मान्यताएँ प्रकट की गई है जिनसे बहिनो के प्रति घोर तिरस्कार के भाव झलकते हैं। बहिनो को घृणा की दृष्टि से देखा गया तथा उनको 'ताडन के अधिकारी' भी बता दिया।

ऐसी मान्यताओ का बुरा असर यह हुआ कि समाज मे भी नारी की उपेक्षा होने लगी। उसका दर्जा इतना सा रख दिया कि कई घरेलू वस्तुओ मे से नारी भी एक वस्तु मात्र है। किसी ने तो उसको 'पैर की जूती" भी कह दिया। ऐसी मान्यताओ और परम्पराओ ने मानव जाति का भयकर अहित किया। मानवता के आधे भाग को जिन्होने ठुकराने का दुस्साहस किया, हकीकत मे उन्होने सारी मानव जाति के भाग्य को ही ठुकराने की चेष्टा की। क्योकि उन्होने मानव जीवन की जननी के सम्मानपूर्ण स्थान का ही अनादर किया। यह एक ऐसा कुकर्म था, जिस ने मानव जाति मे एक बहुत बडी भेद की दीवार खडी कर दी।

वीतराग देवो ने नारी व पुरुष की योग्यता मे कोई भेद नही माना

धर्म के नाम पर भी जहॉ नारी जाति को तिरस्कृत किया गया, उस धर्म के प्रवर्तको मे क्या यह नही मानना चाहिये कि रागद्वेष एव भेदभाव का कालुष्य भरा हुआ था ? उसका धर्मनाम ही कहाँ सार्थक होता है जहॉ समता का ही अभाव हो ? धर्म नाम के क्षेत्र मे भी अगर विषमता की ज्वालाएँ सुलग रही हो– मानवता के आधे अग के प्रति घृणा के भाव जग रहे हो तो उस धर्म से क्या मानव जीवन को सुख और शान्ति मिल सकेगी ?

जिन्होने राग और द्वेष को जीत लिया तथा जो अखड समता भाव में स्थित हो गये, उन वीतराग देवों ने परम तत्त्व आत्मा का साक्षात्कार किया। उनके मन मस्तिष्क में जब कषाय और विकार का लवलेश भी नहीं रहा और उनके विमलज्ञान ने सब ओर विस्तार पा लिया तो उन्होंने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। आत्म तत्त्व के साक्षात्कार से उन्होंने ससार के स्वरूप को देखा और यह अनुभूति ली कि इस जगत् के बीच में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब असख्य प्रदेशो की दृष्टि से समान हैं। उन आत्माओ पर जो विभिन्न आवरण हैं, वे सब आवरण कर्मो के हैं। जिन-जिन कर्मो की प्रधानता होती हैं, उन-उन कर्मो के फलस्वरूप आत्माओ को विभिन्न-विभिन्न प्रकार के शरीर मिलते हैं। वह शरीर पुरुष के रूप मे या नारी के रूप मे हो सकता है तो पशु, पक्षी, देव या नारकीय के रूप में भी हो सकता है।

आत्मा और शरीर का वैसा ही रूपक है जैसा कि शरीर और पोशाक का होता है। जैसे शरीर पर अपनी-अपनी रुचि से अलग-अलग पोशाकें धारण की जाती है और उन अलग-अलग पोशाकों की वजह से उस शरीर को किसी भिन्नता की दृष्टि से नहीं देखते, उसी प्रकार आत्मा के स्वरूप में भी कर्मफल के अनुसार मिलने वाले अलग-अलग शरीरों के कारण कोई भिन्नता नही मानी जाती है।

इस रूप मे वीतराग देवों ने जन मानस के समक्ष पवित्र धर्म को प्रकट किया और बतलाया कि जैसी मोक्ष के परम पद को प्राप्त करने की योग्यता पुरुष मे है, वैसी ही योग्यता नारी को भी प्राप्त है। मोक्ष प्राप्ति की उत्कृष्ट साधना जैसे पुरुष कर सकता है, वैसी ही साधना स्त्री के पोशाक में रहने वाली आत्मा भी कर सकती है। मोक्ष प्राप्ति के उच्च लक्ष्य की प्राप्ति मे भी योग्यता, क्षमता एव अधिकार की दृष्टि से पुरुष और नारी में कोई भेद नहीं है। यह सिद्धान्त तीर्थकरों ने अभिव्यक्त किया है।

शरीरो का अन्तर : पोशाको का फर्क

जैन शास्त्रों के अनुसार तीर्थ स्थापित करने वाले तीर्थंकर भी केवल पुरुष ही नहीं होते, लेकिन नारी जाति के तीर्थंकर भी होते हैं। भगवान् मल्लिनाथ जो इस चौबीसी में उन्नीसवें तीर्थंकर थे, स्वय नारी जाति से थे। इनकी प्रार्थना का उच्चारण अभी किया गया तो क्या आप धीमे स्वरो मे इस कारण तो नहीं बोले कि मल्लिकुवारी जी के गुण क्यो गावे ? किसी के मस्तिष्क मे ऐसे गलत भेद की बात समाई हुई हो तो वह उसको निकाल दें। बोलना अलग बात है और भावों को सही दिशा में मोडना अलग बात है। यदि आप समभाव के समर्थक हैं और वीतराग वाणी के अनुसार बहिनो के मोक्ष प्राप्ति के समान अधिकार को स्वीकार करते हैं तो एक बार फिर मल्लिनाथ भगवान् की प्रार्थना के उच्चारण मे अपनी पूर्ण वाचा शक्ति का प्रयोग करे।

सर्वज्ञ समदर्शी वीतराग प्रभु ने पोशाक की अवस्था का भी मूल्याकन किया है। शरीरो के स्वरूप का कथन करते हुए उन्होंने शरीरों के अनुरूप उनके गुणो को भी बतलाया है। शरीर भी पोशाको की तरह है। पुरुष का शरीर, स्त्री का शरीर या अन्य योनियो के शरीर– ये सब पहिचान के सकेत हैं। आप भाइयों की पोशाक मे व बहिनों की पोशाक में अन्तर है, उसी रूप मे शरीरो में भी अन्तर है। जैसे शरीर के लिये पोशाक है, वैसे ही शरीर आत्मा के लिये पोशाक के समान है। जैसे शरीर पर नयी पोशाक धारण की जाती है और जब वह जीर्ण शीर्ण हो जाती है तो उसे त्याग देते हैं, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को धारण करती है तो उस शरीर की आयु के अनुराग उसके जीर्ण शीर्ण होने पर उसको त्याग देती है तथा उपार्जित कर्मो के अनुसार नये शरीर को धारण कर लेती है।

तो आज जो शरीर मिला है, वह इस जीवन के नही, बल्कि पिछले जन्म या जन्मों के कर्मो के फलस्वरूप मिला है। आत्मा जैसे कर्म करती है, उसके अनुसार उसको आगे शरीर मिलता है। जिन आत्माओ ने पुरुष के शरीर में रहते हुए परिस्थितिवश कुसगति के अधीन होकर पुरुष योनि की तुलना में नीचे कर्म किये तो उसके फलस्वरूप स्त्री की आकृति वाली पोशाक उन आत्माओं को मिली। पुरुष शरीर की पोशाक छूटी और नारी शरीर की पोशाक उनको उपलब्ध हुई। इसके पीछे मूल रहा हुआ है तथा वह मूल भी गुण के साथ है, केवल शरीर पिड या जाति के साथ नहीं है।

आज की हवा के मुताबिक कई भाई बहिनों के मन मे कुछ सवाल इस

बारे मे जरूर पैदा होते होगे। वे सोचते होगे कि जब शास्त्रीय दृष्टि से भी मोक्ष प्राप्ति के अधिकार में नारी एव पुरुष को समान स्थान दिया गया है तो फिर एक दिन के दीक्षित साधु को भी पचास वर्ष की दीक्षित साध्वी द्वारा वन्दन करने का विधान क्यो है ? नारी एव पुरुष की समान स्थिति मानने के बाद भी यह वन्दन का फर्क क्यों है ? और भी कई सवाल पैदा होते होगे, मगर यह सवाल मुख्य लगता है, इसलिये इसका सन्तोषजनक समाधान भी जरूरी है।

यह भी मूल मे गुणो का ही समादर है।

वीतराग देवों का यह जैन धर्म गुणो की गरिमा को ही प्रधानता देता है। यह गुणो के समादर की ही परम्परा है कि जो कम गुणी है और जिसमें कम गुणी होने का चिन्ह है, वह उन व्यक्तियो को नमस्कार करे जो अधिक गुणी हैं अथवा जिनमे अधिक गुणी होने का कोई चिन्ह दृष्टिगत होता है। छद्मस्त व्यक्ति के अधिक गुणी होने का कोई न कोई प्रमाण होना चाहिये। ऐसा गृहस्थ पुरुष भी किसी समय भावो के प्रवाह में बहुत ऊँचा बह जाता है और साधु से भी उत्तम स्थान पा लेता है लेकिन उसके गुणो का प्रतीक कोई चिन्ह बाहर नहीं दिखाई देता है। वह गृहस्थ की पोशाक मे होता है लेकिन वह पोशाक इन आन्तरिक गुण को प्रकट करने वाली नहीं होती है। गृहस्थ अवस्था की पोशाक गृहस्थ के तुल्य जीवन को ही प्रकट करती है, न कि साधु के योग्य जीवन को। साधु के योग्य पोशाक नहीं होने से उस गृहस्थ को वन्दन नही किया जाता है।

तीर्थंकर जब माता की कुक्षि में आते हैं, तभी तीन ज्ञान को लेकर आते हैं– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान। वे जब तक गृहस्थाश्रम में रहते हैं, तब तक इन तीनो ज्ञान की धारा रहती है और ससार के कई व्यक्तियो को ज्ञात होता है कि वे तीर्थंकर बनने वाले हैं और इसी जन्म मे मोक्ष जाने वाले हैं। श्रावको की दृष्टि मे भी यह बात आती है, फिर भी वे उनको वन्दन नही करते। साधुओं को भी यह मालूम होता है कि हम जिस साधुव्रत और जिस सम्यक्त्व को लेकर चल रहे हैं, उसकी अपेक्षा तीर्थंकर का सम्यक्त्व बहुत ऊँचा है, जितना हमारे अन्दर ज्ञान है उससे अधिक ज्ञान उनमे है, फिर भी चूकि तब तक उन्होंने तीर्थंकर पद का चिन्ह धारण नहीं किया हुआ होता है और वे गृहस्थ की पोशाक मे होते हैं तो उनको वन्दन नही किया जाता है। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका गृहस्थाश्रम मे रहने वाले तीर्थंकर को वन्दन नही करते। क्यो नही करते जब कि वे अधिक गुणवान होते हैं ? इसलिये उनको वन्दन-नमस्कार नहीं करते

कि गुण को प्रकट करने वाला चिन्ह नही होता है।

यह समाधान थोडा आपके लिये अटपटा हो रहा होगा सो एक रूपक देता हूँ। जैसे तीर्थंकरों में गुण अधिक हैं फिर भी उन गुणो के अनुसार प्रतीक चिन्ह प्रकट में नहीं होता है इसलिये उनको साधु साध्वी श्रावक श्राविका वन्दन नहीं करते। वैसे ही यह थोडा सा ख्याल करना है कि वर्तमान की यह शरीर रूपी पोशाक क्या चिन्ह प्रकट करती है ? यह पुरुष शरीर रूपी चिन्ह किस गुण से मिला तथा स्त्री शरीर रूपी चिन्ह किस गुण की कमी रह जाने से मिला ? इसलिये वर्तमान मे जिन गुणों का प्रतीक चिन्ह आपके सामने हैं, उन्हे अधिक वन्दन नमस्कार होगा। यह अनुसधान शास्त्रीय दृष्टि से है, मेरे मुह से नहीं। यह भी मूल मे गुणों का ही समादर है।

गुणवत्ता की न्यून।ाधिकता का विश्लेषण

शास्त्रकारो ने इस आत्मा के साथ मोह कर्म की प्रधानता बताई है। जिस व्यक्ति मे मोह कर्म की अधिकता होती है, वह आत्मिक गुणो को अधिक नहीं जानता है और जिसका मोह कर्म कम होता है, उसमें आत्मिक गुणो का अधिक विकास होता है। उसका ससार में पुनर्जन्म हो तो उसे आत्मिक गुणो का प्रतीक शरीर मिलता है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले के जन्म मे जिस आत्मा ने मोह कर्म को हल्का किया हो तो उस आत्मा को पुरुष का शरीर मिलता है। लेकिन जिस आत्मा ने अपेक्षाकृत मोह को अधिक भारी बनाया हो, तो उसको नारी शरीर रूपी चिन्ह मिलता है।

इसे एक दृष्टान्त से स्पष्ट कर दू। आपने आग देखी है। सब आग एक सरीखी नहीं होती– हल्की भारी भी होती है। एक तो घास के सूखे तिनको मे चिनगारी पड जावे और उसमें आग लगे। दूसरी गोबर के कडो (छाणो) की आग लगे तथा तीसरी जगल मे दावानल के रूप आग लगे जो गीली लकडियो और हरे भरे वृक्षों को भी जला देती है। तो इन तीनों तरह की आग में सबसे हल्की कौनसी होती है ? घास के सूखे तिनकों की आग सबसे हल्की होगी। उससे कडो की आग भारी तथा कडो की आग से दावानल की आग भारी होती है।

वैसे ही शास्त्रकारो ने पुरुष, स्त्री तथा नपुसक इन तीनों शरीरों का कारण बताया है। जिन आत्माओ में मोह का गुण सूखे तिनकों के समान हल्का था, पूर्व जन्म में उसकी प्रधानता से वर्तमान पुरुष शरीर मिला। कडों की आग के समान मोह का गुण जिन आत्माओ का अपेक्षाकृत अधिक भारी था, तदनुसार

उनको नारी शरीर मिला। दावानल की आग की तरह जिनके मोह की दशा भयकर थी, उन्हे नपुसक शरीर प्राप्त हुआ। इन तीनो प्रकार के शरीरो की प्राप्ति के ये कारण भी गुणवत्ता की न्यूनाधिकता पर ही आधारित हैं।

ये शरीर वर्तमान में प्रकट है लेकिन वर्तमान के गुणो के साथ प्रकट नहीं हुए हैं– पहले के गुणों के फलस्वरुप प्रकट हुए हैं। पुरुष का शरीर मोह कर्म की स्थिति के अनुसार मिला है। गुणस्थान की दृष्टि से भी पुरुष वेद का बध सम्बन्ध नवमें गुणस्थान तक होगा और स्त्रीवेद का दूसरे गुणस्थान तक ही। पहला गुणस्थान मिथ्यात्व का माना गया है। दूसरे को भी मिथ्यात्व के समकक्ष माना है। ऐसी अवस्था मे आज के चोले से जिस शरीर को प्रधानता मिली है उसका प्रत्यक्ष चिन्ह स्त्री शरीर और पुरुष शरीर– यह पूर्व के गुणो का चिन्ह है। वर्तमान मे जो बहिने पुरुषो से अधिक गुण सम्पादन करती हैं, उनका प्रतीक फल आगे के जीवन मे दृष्टि मे आवेगा। लेकिन अभी वर्तमान मे पचास वर्ष की दीक्षा वाली साध्वी जो कुछ काम कर रही है, उसमें गुण हैं अवश्य लेकिन जैसे गृहस्थ अवस्था में रहते हुए तीर्थंकरो मे अधिक गुण होने के बावजूद साधु साध्वियॉ उनको वन्दन नही करते– उसी तरह से पूर्व गुणों की दृष्टि से ही प्राप्त इस शरीर पिड के नमन का प्रश्न है। शरीर के चिन्ह की दृष्टि से पुरुष को ज्येष्ठता का पद दिया, इसलिये पुरुष के ज्येष्ठत्त्व को वन्दन करने की शास्त्रो मे विधान है। इस दृष्टि से साध्वी साधु को वन्दन करेगी। जिस समय केवल गुण की दृष्टि से वन्दन होगा तो वह वन्दन साधु साध्वियो तथा साधु जीवन के समकक्ष चल रहे श्रावक-श्राविकाओं को भी हो जायगा। वैसे प्रकट में जो चिन्ह है, उसी के अनुसार वन्दन का क्रम चलेगा। इस विधान में भी मूलत गुणवत्ता का ही भाव है। यह गुणवत्ता पूर्व के गुणो के फलस्वरूप प्राप्त चिन्ह के अनुसार आकी जाती है और आज वर्तमान मे जो गुण हैं, उनका चिन्ह प्रकट नहीं होने से उस पर नहीं चला जा सकता है।

आयु के बावजूद भी पद का समादर

समादर की दृष्टि से ऐसा प्रसग पुरुषों-पुरुषों के बीच में भी आता है। सोचे कि एक विशालसभा मे कई गुणी व अनुभवी व्यक्ति भी बैठे होते हैं, फिर भी एक बीस वर्ष के युवक को सभापति के पद पर बिठा देते है तो सभापति के नाते उसको महत्त्व मिल जाता है। आयु की कमी के बावजूद भी उसको अपने पद के कारण समादर प्राप्त हो जाता है। लौकिक व्यवहार मे

भी ऐसा होता है। कभी चाचा पद वाला दस वर्ष का होता है और भतीजा पचास वर्ष का। ऐसी दशा मे आयु के अन्तर के बावजूद तथा गुणो के अन्तर के बावजूद छोटे को समादर देना और नमस्कार करना पड जाता है। वैसे ही पचास वर्ष की शीलवती बहू है, लेकिन उस बहू का श्वसुर तीसरी शादी करके उस बहू के लिये सोलह वर्ष की सासू ले आता है तो क्या बहू को सासू के पद से कम उम्र को भी नमस्कार करना पडेगा या नही ? यह शरीर पिडो का व्यवहार है। छोटा चाचा और छोटी सासू भी पद के कारण बडे भतीजे और बडी बहू के द्वारा भी वन्दनीय हो जाते है। यहॉ पद का सम्बन्ध आ जाता है, आयु तथा गुण का सम्बन्ध गौण हो जाता है।

इसी तरह से साध्वी पद के साथ सम्बन्ध है। भावो की दृष्टि से, गुणो की दृष्टि से सबका वन्दन होता है। यह भेद की दृष्टि नही है। तत्त्व की दृष्टि से वीतराग ने स्वरूप समझाया है।

जैसी पुरुष लिग की स्थिति मनुष्यो मे है, वैसी ही पशुओ मे भी दिखाई देगी। यह कुदरती भी है। हजार गायो के बीच मे एक साड की प्रधानता दिखाई देती है तो बन्दरियो की टोली मे एक बन्दर सबका सम्मान पाता है। इसी तरह पुरुष पद का सम्मान है। इसमे नारी के तिरस्कार की कोई भावना नही है।

भगवान् महावीर ने यह भी निर्देश दिया कि बहिने साधु के पैर नही छुए और साधु नहीं छूने देता है तो क्या यह बहिनों के साथ घृणा-भाव कहलायगा ? ऐसा नही है। यह एक मर्यादा है, व्यवस्था है तथा व्यवस्था भी गुणो के साथ है। इसमे पुरुष तथा नारी के बीच भेदभाव का कोई प्रश्न नही है। वर्तमान शरीर की रचना तथा शक्ति का जो भेद है, वह शरीर का व्यवहार जब तक वर्तमान शरीर है तब तक रहेगा और बाद मे इस जन्म के गुणो के फलस्वरूप आगामी जन्म मे शरीर प्राप्त प्राप्त होगा।

गुण, धर्म कार्य एव मोक्ष प्राप्ति मे नारी पुरुष की पूर्ण सम्मानता

जहॉ शास्त्रकारों ने नारियो को मोक्ष का समान अधिकार दिया है, वहॉ शरीर पिड का व्यवहार शरीर है तब तक रहेगा। गुणो की दृष्टि से सबका वन्दन है– इस प्रकार का अधिकार तीर्थंकरो ने दिया और नारियों का मान बढाया। वर्तमान अवस्था के बावजूद जहॉ नारियॉ पुरुषों से अधिक धर्मकरणी कर सकती

है, उसका फल भी वे पुरुषों से अधिक पा सकती हैं। वे मोक्षगामी भी बन सकती है बल्कि कई महिलाएँ मोक्ष मे गई हैं।

मल्लिकुमारी ने नारी शरीर में होते हुए भी तीर्थंकर पद का चिन्ह प्रकट कर दिया और विमल गुणो को विकसित बना दिया तो वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओ द्वारा वन्दनीय बन गई। एक नारी को नमस्कार आ गया, लेकिन प्रकट चिन्हो से प्रकट गुणवत्ता के आधार पर आया। इसलिये सापेक्ष दृष्टिकोण–स्याद्वाद की विधि से चिन्तन करने की आवश्यकता है।

गुण, धर्म करणी तथा मोक्ष प्राप्ति मे जैन धर्म नारी पुरुष की समानता का प्रबल समर्थक है। इस प्रकार की स्थिति मन के सकल्प मे ली जाय कि शरीर की अवस्था देखकर अधिक से अधिक धर्मकरणी की जाय ताकि गुणवत्ता के आधार पर अगले जन्म मे ज्येष्ठ शरीर प्राप्त हो। वास्तविकता यही है कि सर्वत्र गुणो के समादर की परम्परा ही सम्मान पाती है। गुणपूजा का भाव ही समानता का द्योतक होता है।



20

वर्तमान जीवन की सुरक्षा पहले कीजिये !

श्री मुनि सुव्रत साहिबा, देव तणा देव के।
तरण तारण प्रभु तो भणी, उज्जवल चित्त सुमिरू नितमेव के।
हु अपराधी अनादि को, जन्म जन्म गुनाह किया भरपूर के।
लूटिया प्राण छ काय ना, सेविया पाप अठार करूर के।

परमात्मा मुनि सुव्रत के चरणो मे इस प्रार्थना के माध्यम से जैसे अपनी ही आन्तरिक भावना का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। जो अपनी भावना है, वह सबकी भावना है कि अपने आत्म स्वरूप पर अन्तर्दृष्टि जानें और देखे कि उस स्वरूप पर कितने अपराधो और पापो का मैल चढ रहा है तथा कितनी अपवित्रता से वह स्वरूप रग गया है ?

जब प्रार्थना अन्तकरण की निष्ठा के साथ की जाती है तो मानसिक धरातल के भावो की पवित्रता का प्रसग स्मरण में जुट जाता है। ऐसा स्मरण विशेष प्रेरणादायक बन जाता है। कवि ने अपने अन्तकरण को क्या एक प्रकार से सभी विवेकशील प्राणियो के अन्तकरण को सम्बोधित करते हुए उन्हे उज्ज्वल चित्त से परमात्मा को स्मरण करने की बात कही है। यदि सभी भव्य आत्माएँ अपने चित्त को स्वच्छ एव निर्मल बनाकर प्रभु की भक्ति में– बल्कि किसी भी कार्य में जुट जाय तो कार्य ही सफल नहीं बनता है अपितु वह चित्त की उज्ज्वलता चारों ओर प्रकाश फैलाने वाली किरणों के समान चमक उठती है।

यह चित्त की निर्मलता ऐसी नहीं है जिसका फल किसी अगले जन्म मे मिलेगा। दर्पण ज्यो ही स्वच्छ होता है कि उसमें तुरन्त मुह दिखाई देने लगता है। वैसे ही इसका तत्काल फल सामने आता है। चित्त की निर्मलता स्वय सुख एव आनन्द का कारण होती है तथा उससे सबसे पहले पाप प्रवृत्तियो से वर्तमान जीवन की ही सुरक्षा उत्पन्न होती है। यह ध्यान रखिये कि आप वर्तमान

जीवन की सुरक्षा पहले करे।

परलोक का सुधार पहले या इस लोक का ?

कभी-कभी कई भाई बहिनो के विचारों मे परमात्मा के स्मरण सम्बन्धी चिन्तन का कुछ विकृत रूप आ जाता है। वे सोचते हैं कि अभी हम जो परमात्मा का स्मरण करेंगे अथवा अन्यान्य धार्मिक क्रियाओ मे प्रवृत्त होंगे तो उससे परलोक का सुधार होगा, कारण अभी जो कुछ भी धर्म कर्म किया जाता है, उसके फल का उदय तो आगामी जीवन मे ही हो सकेगा। उनकी भावना में ऐसी मात्रा कम अभिव्यक्त होती है कि इन सब धर्म कार्यों से यह लोक– यह जीवन सुधरेगा अथवा उनसे इस जीवन में सुख और आनन्द प्राप्त होगा। वे तो परलोक के लिये ही विशेष चिन्तन करते हैं।

कदाचित् किसी भक्त ने– किसी ज्ञानी ने इस लोक मे रहते हुए प्रभु स्मरण के प्रभाव को माना हो तो वह उस प्रभाव को अपनी आत्मा तक ही सीमित मानता है, क्योकि पहले प्रधान रूप से आत्म स्वरूप ही उज्ज्वल बनता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों पर उस व्यक्ति का प्रभाव तब पडना प्रारम्भ होगा जब उसकी आन्तरिक साधना का स्तर ऊपर तक चढकर बहुत ही प्रभाविक बन जाता है।

यही कारण है कि आज के भाई बहिनो की रुचि धार्मिक विषयो मे कम होती जा रही है। उनके मस्तिष्क मे परलोक शुद्धि के सदर्भ मे आत्म शुद्धि की बात विशेष महत्त्व नहीं रखती। अधिकाश लोगो को इस लोक की ही पहले चिन्ता होती है और उनमे भी अधिक लोगो की चिन्ता मे कोई विशेष महत्त्व की बाते हैं तो वे ये हैं कि उनका शरीर स्वस्थ और पुष्ट रहे, उनका मन मस्तिष्क तरोताजा हो, उन्हें परिजनो का पर्याप्त सहयोग मिले तथा सुख सुविधाओ के लिये खूब सम्पत्ति प्राप्त हो। इसके साथ ही उन्हे यश कीर्ति का लाभ भी मिले।

इस लोक की पहले चिन्ता होना कोई बुरी बात नही है, अपितु यही चिन्ता पहले होनी चाहिये और चिन्तन मे यह विचार चलना चाहिये कि इस जीवन मे चित्त की पवित्रता कैसे पैदा हो, हृदय मे सबके प्रति आत्मवत् भावना कैसे पनपे तथा ससार मे रहते हुए भी आचरण की उज्ज्वलता कैसे प्रकाशित बने ? यदि ऐसा चिन्तन अपने अनुरूप कार्यप्रणाली को प्रेरणा देता है तो इस लोक की ऋद्धि सिद्धि मिले– इसमें कोई शका की बात नहीं है। मन शुद्ध होगा तो वचन और काया भी शुद्ध रहेगी तथा शुद्धता में स्वास्थ्य, सुख सुविधा, स्नेह,

सहयोग समी भरपूर मिलेगा एव सदाचरण की कीर्ति भी प्राप्त हो सकेगी। इस रूप में इस लोक–इस जीवन का सुधार पहले जरूरी है और परलोक के लिये चिन्तित होने की कोई जरूरत नही है, कारण परलोक की नींव इस लोक की उपलब्धियों पर ही खडी होती है।

इस लोक को– इस जीवन को आनन्ददायक कैसे बनावे ?

ससार मे रहते हुए पहले अपने चिन्तन मे अपने शरीर की सुख सुविधा, मन वचन काया का आनन्द, परिजनो का स्नेह, वैमव की पूर्ति आदि विषयो को प्राथमिकता से लेने वाली आत्माओ को थोडा अन्तरावलोकन करना चाहिये कि शुद्धि तो सभी प्रकार के उद्देश्यो के लिये तथा सभी स्थानो पर आवश्यक होती है। गहराई की बातें वे बाद में सोचे, लेकिन यह बात तो उनकी समझ मे जल्दी आ जायगी कि तन की शुद्धि हमेशा क्यों रखी जाती है ? चाहे दूकान पर बैठे या कहीं पर जावे, ऐसा सोचने वाले व्यक्ति गन्दे शरीर और गन्दे कपडों के साथ तो जाना नही चाहते हैं। इसका अर्थ है कि उन्हे स्वच्छता का महत्त्व तो मालूम है कि स्वच्छ रहने से आनन्द का अनुमव होता है।

अब प्रश्न यह है कि वे तन की शुद्धि की बात समझते हैं तो मन और वचन की शुद्धि की बात क्यों नहीं समझते ? तन की शुद्धि के साथ जब वे चलते हैं तो वे महसूस करते हैं कि उनका जी हल्का हल्का लग रहा है। वे इसी अनुभव को आगे बढाना क्यो भूल जाते हैं ? वे मन और वचन की शुद्धि को अपनाने लगें तो उन्हे अद्भुत हल्केपन का अनुभव होगा और असली आनन्द का पार नहीं रहेगा।

वे जब तन की शुद्धि करते हैं तो उस कार्य का फल तुरन्त ही उनके अनुभव मे आ जाता है किन्तु मन एव वचन की शुद्धि का फल तो उससे भी त्वरित गति से और कई गुना आनन्द के साथ प्रकट होता है। वास्तव में यही मार्ग है कि इस लोक को– इस जीवन को तत्काल आनन्ददायक बना सकते हैं। यह मार्ग सभी प्रकार की स्वच्छता एव पवित्रता का मार्ग है। कोरे तन की शुद्धि महत्त्वहीन होती है– मछली रात दिन पानी में तैरती है तो क्या उसकी इस तन शुद्धि से उसके जीवन का कल्याण हो जाता है ? शुद्धि असल मे होनी चाहिये मन की जिससे प्राणी मात्र के साथ स्नेह और सहयोग का सम्बन्ध बनता है तथा शुद्धि होनी चाहिये वचन की कि जो बोल निकले, मधुरता का मरहम लगाता हुआ निकले। इस तरह सब मिलाकर जो आत्म शुद्धि होती है, वह जीवन मे

समता का समरस घोल देती है।

समता की जीवन प्रणाली को जो अपना लेता है, उसे जीवन का सम्पूर्ण वैभव भी प्राप्त होता है तो सुयश भी मिलता है। मूल रूप में उसका वर्तमान जीवन सार्थक तथा आनन्ददायक बन जाता है।

मूल को भूलकर
केवल शाखाओ को न पकडे !

शरीर का स्वास्थ्य, मन मस्तिष्क की तरोताजगी, परिजनो का भव्य प्रेम और वैभव की उपलब्धि– जिस तत्त्व के आधार पर है, दु ख का विषय है कि उस तत्त्व को आप भुला रहे हैं। मूल जड को भूलकर शाखाओ और टहनियो को ही पकड कर रखना कहॉ की बुद्धिमानी है ? जिस जड से टहनियॉ हरी भरी बनती है, उन हरी भरी टहनियो से लुभा कर टहनियो को तो पकड लें और जड उखड रही है या सूख रही है– इसका तनिक भी ख्याल नहीं रखे तो क्या टहनियो को हरी भरी बनाये रख सकेगे तथा उनका सुख भोगते रह सकेंगे ?

वे जिन बातों की प्राप्ति चाहते हैं, उसके लिये भी महत्त्वपूर्ण मूल कारण चित्त अथवा मन होता है। चित्त की शुद्धि, मन की पवित्रता सबसे पहले इस शरीर पिंड पर ही सुप्रभाव डालती है। शरीर सुस्वस्थ बनता है तो मन-मष्तिष्क भी तरोताजा बन जाते हैं। यदि ये सब स्वच्छ एव निर्मल रहे तो इनके माध्यम से जिस परिवार के प्रेम से वे अपने को सुखी बनाना चाहते हैं, वह सुख भी उनको मिल सकेगा। परिवार के स्नेह सहयोग से वैभव भी अर्जित कर सकेगे तो कीर्ति भी बना सकेगे।

क्या कहू– कहते कहते विचार आ जाता है कि मेरे भाई जीवन सुधार और जीवन निर्माण की बात को भी ध्यान से नहीं सुनते हैं– शून्य चित्त लेकर बैठ जाते हैं। यह शून्यता ही मूल को भूलने की स्थिति है। जागरूक दृष्टिकोण सतत सामने रहना चाहिये कि हमारा वर्तमान जीवन कैसे भव्य बने, कैसे उसमें उज्ज्वलता आवे, कैसे उसमे सच्चे सुख का प्रवाह फूटे तथा कैसे वह आनन्ददायक प्रवाह अपने साथ दूसरों को आनन्द से सरोबार बनादे ? ऐसी जागरूक दृष्टि सदा मूल पर लगी हुई होती है। वह विवेकशील व्यक्ति प्रति क्षण यह ध्यान रखता है कि जड की कही सूख या जल तो नहीं रही है ? कहीं उसके फैलाव मे अटकाव तो पैदा नही हो रहा है ? कहीं जडों मे दीमक तो नहीं लग गया है ? वह जड का पूरा ध्यान रखता है और टहनियों की तरफ देखता भी नहीं, क्योकि वह जानता है कि जड हरी भरी रही तो टहनियो के हरी भरी रहने मे

कोई बाधा नही आयगी। मूल है सो यही जीवन है– परलोक है सो टहनियाँ है। इस जीवन के सुधार और इसकी निर्मलता के लिये सचेष्ट बन गये तो उसका फल तत्काल मिलेगा।

पूर्व भव से निर्धारित आयुष्य का पूर्ण सदुपयोग आवश्यक

यह मानव जीवन जो मिला है– इसकी आयु या इसका आयुष्य पूर्व भव से ही निर्धारित हो चुका है। जितना आयुष्य मिला है, उतना जीना ही पडेगा तो उस आयुष्य का पूर्ण सदुपयोग ही करना चाहिये कि प्राप्त यह वर्तमान जीवन आनन्द का खजाना बनकर हमको मिले। मैं आपको पूछू कि जितना आयुष्य पूर्व जन्म का बाध कर आये हैं, उतने आयुष्य तक जीवित रहना चाहते हैं या पहले ही प्रस्थान कर देना चाहते हैं ? सभी अधिक से अधिक जीवित रहने की कामना रखते हैं। फिर पूछू कि इस मानव योनि के छूट जाने के बाद फिर मानव जीवन पाना चाहते हैं या नीचे की अन्य योनियाँ योगना चाहते हैं ? आप चाहेगे कि फिर मनुष्य जीवन ही प्राप्त हो। ऐसा तभी हो सकेगा जब आप प्राप्त आयुष्य का पूर्ण सदुपयोग करके इस वर्तमान जीवन को सुरक्षित बनाले।

सोचिये कि सबसे पहला सवाल आयुष्य का है। शरीर कितना ही स्वस्थ हो और मृत्यु आ जाय तो स्वास्थ्य क्या काम देगा ? बुद्धि बडी तेज हो– मन बडा मजबूत हो मगर आयुष्य नहीं रहे तो इनका अस्तित्व भी मिट जायगा। इसलिये सब का बल सबका आचार आयुष्य है। इस आयुष्य को आप पूर्व जन्म में बाध कर आये हैं लेकिन इस जीवन में इसको सुरक्षित रखना तथा सत्प्रयुक्त बनाना आपके हाथ की बात है और इस सुरक्षा व सदुपयोग के द्वारा परलोक का सुधार कर लेना भी आपके ही हाथ की बात है। अगला जन्म कैसा हो– किस योनि का हो तथा उसमे क्या-क्या सुविधाएँ मिले– यह अन्य कोई शक्ति निर्धारित नहीं करती– इसके निर्माता भी आप ही हैं। इसलिये इस जीवन मे प्राप्त आयुष्य को शालीनता और श्रेष्ठता से भोगने की चेष्टा करें।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि यह आयुष्य किसके हाथ की बात है ? कोई अकाल मृत्यु प्राप्त करता है सो कहेंगे कि होनहार ऐसा ही था सो हो गया– हम क्या करे ? मैं कहता हूँ, यही तो सबसे बडी भूल है। होनहार के भरोसे रहकर वर्तमान मे पुरुषार्थ को छोड देना भयकर भूल होगी। होनहार क्या है, कभी देखा है ? परमात्मा की बात सुनी, आत्मा की बात सुनी– ये सब बाते नव तत्त्व मे समाविष्ट हो जाती है। ससार में जितने तत्त्व हैं, उनमे से कोई तत्त्व नव तत्त्व

की सीमा से बाहर नही रहता है। पूर्व जन्म मे जो शुभ या अशुभ कर्म कोई करता है, उसी के आधार पर इस जन्म का होनहार बनता है। हमारे ही हाथ में बाजी थी और अब भी बाजी हमारे ही हाथ मे है। होनहार के पीछे नही रहे तथा वर्तमान आयुष्य का ख्याल रखते हुए इस जीवन का निश्चिन्त होकर पूर्ण सदुपयोग कर ले।

आयुष्य के प्रकार तथा फल भोग की व्यवस्था

आयुष्य दो तरह का होता है। एक आयुष्य वह जो आत्मा पूर्व जन्म में अपनी करणी के अनुसार बाध कर आती है। जो आयुष्य इस तरह बधा है, उस को भोगना ही पडता है– चाहे कितना ही आघात लग जाय, दुर्घटना घट जाय या सिह का आक्रमण ही क्यो न हो जाय ? इन के कारण भी आयुष्य का जल्दी भोगना नहीं हो सकता है। ऐसे आयुष्य को शास्त्रीय भाषा में अपरिवर्तनीय कहते हैं अर्थात् ऐसा आयुष्य किसी भी प्रकार से निर्धारित अवधि के पहले समाप्त नही होता है। पूर्ण आयुष्य जो लेकर आता है, उसको पूर्ण अवधि तक वह भोगता ही है। ऐसा आयुष्य तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की उत्तम आत्माओं को प्राप्त होता है। चरम शरीर आत्माएँ, युगलिये, असख्य वर्ष की आयु वाले देव और नारकीय भी ऐसे अपरिवर्तनीय आयुष्य के धारक होते हैं। यह आयुष्य बीच में टूटता नहीं है– जैसा भी है पूरा भोगना ही पडता है।

दूसरे प्रकार का आयुष्य कच्चा आयुष्य होता है। यह ऐसा आयुष्य होता है जो आघात लगने पर कच्चे धागे की तरह टूट जाता है। आज के मनुष्यों का आयुष्य अधिकाशत इसी प्रकार का होता है। आजकल के मनुष्य चरम शरीरी नही होते हैं और कच्चे आयुष्य वाले होते हैं। एक मनुष्य अपना आयुष्य लेकर चल रहा है और उस पर कोई आघात हुआ या कोई मारक विघ्न आ गया तो वह आयुष्य टूट जाता है। मान लीजिये किसी का सौ वर्ष का आयुष्य है और पच्चीस वर्ष की आयु मे वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया और चोट की चिकित्सा कारगर नहीं बैठी तो वह अपने बाकी के पचहत्तर वर्ष का आयुष्य अन्तर्मुहुर्त मे भोग कर इस शरीर को छोड देता है। अन्तर्मुहुर्त का छोटे से छोटा भाग आख के पलक गिराने जितना होता है। ऐसे आयुष्य भोग को अकाल मृत्यु की सज्ञा दी जाती है।

आप सोचेगे कि पचहत्तर वर्ष के शेष आयुष्य का भोग अन्तर्मुहुर्त मे कैसे पूरा हो जाता होगा ? इसको समझने के लिये आप प्राचीन काल के दीपक का रूपक अपने सामने लें। पहले मिट्टी के दीपक मे तेल भर कर और बत्ती

जलाकर प्रकाश किया जाता था। सोचे कि दीपक बडे आकार का हो, उसमे तेल पूरा भर दिया जाय, मगर बत्ती छोटे से छोटे आकार की रखी जाय तो क्या होगा ? जितना ज्यादा तेल और जितनी छोटी बत्ती– वह दीपक लम्बे समय तक जलता रह सकेगा। अब उसी दीपक मे दो बडी-बडी बत्तियॉ लगादी जाय तो जलने के समय का परिमाण काफी कम हो जायगा। फिर दस बीस बत्तियॉ चारों ओर लगादी जाय तो जलने के समय की अवधि कितनी कम हो जायगी ? तब सारा तेल थोडे से समय में ही जल जायगा।

आयुष्य का तेल तो निर्धारित और सीमित है। अब शरीर के दीपक में बत्तियॉ कितनी जलादी जाती है– उस पर फल भोग का समय निर्भर करता है।

ज्यादा बत्तियॉ जलाओगे, तो तेल जल्दी खत्म होगा

सीमित तेल मे जितनी ज्यादा तादाद मे बत्तियॉ जलाई जायगी, तेल जल्दी खत्म होगा। जानते हैं, ये बत्तियॉ क्या होती हैं ? दीपक मे एक बत्ती जल रही है। यदि दुर्घटना की दूसरी बत्ती लग गई या जहर खा लिया या अति चिन्ता, अति भय अथवा अति शोक मे डूब गये, तो समझिये कि उस आयुष्य के तेल मे कई बत्तियॉ लग गई हैं। दुर्घटना से सावधानी रखते हैं, जहर खाने का या शस्त्र से मरने का प्रयास शायद ही कोई करे, लेकिन अति चिन्ता, अति भय एव अति शोक मे तो कई व्यक्ति डूबे रहते हैं तथा आर्तध्यान व रौद्रध्यान ध्याते हुए अपवित्रता बढाते रहते हैं।

यहॉ बैठने वाले आप लोगो में से तो कोई अति चिन्ता, अति भय या अति शोक से ग्रस्त तो नहीं हैं ? यदि आयुष्य जितना बधा है उतना भोगना चाहते हैं तो कभी भी अति भय न करे। चाहिये तो यह कि आप भय को ही दिल से निकाल फैंकें। अति चिन्ता भी मत करिये। जानते हैं कि कोशिश करने से काम होगा और जो नहीं होने का काम है, वह नही होगा, फिर चिन्ता करने से क्या होने वाला है ? मानसिक तनाव के सम्बन्ध में यह चिन्ता भी एक आघात के समान होती है और चिन्ता चिता समान जो कहा है उसका मतलब ही यह है कि चिन्ता का आयुष्य पर बडा घातक प्रभाव पडता है। तो अति भय से बचिये और अति चिन्ता से भी पीछा छुडाइये।

अति शोक भी उतना ही घातक होता है। यदि कोई काल कर जाता है तो ये बहिनें इतनी शोक में डूब जाती है और सोचने लग जाती है कि मैं भी मर

जाऊ तो अच्छा। वे अज्ञानतावश मृत्यु के बाद भी महीना, दो महीना और साल भर तक शोक में डूबी रहती हैं। वे चित्त को मलिन बनाती है, 'कर्म बाधती हैं' और अपने आयुष्य पर आघात लगाती हैं। उन बहिनो से यदि कोई मारने वाला जहर लेने को कहे तो तैयार नहीं होगी, मगर अज्ञानूपर्वक इस जहर को वे भीतर डालती रहती हैं।

इस प्रकार ये सब ऐसी बत्तियॉ हैं तो ज्यादा से ज्यादा तेल पीकर दीपक को समय से पहले बुझा देती हैं। यदि इन प्रवृत्तियों द्वारा आयुष्य का अज्ञानतावश क्षय नहीं किया जाय तो पूरे आयुष्य का आनन्दपूर्वक उपभोग किया जा सकेगा। आनन्दपूर्वक इस कारण कि जब चित्त की उज्ज्वलता और पवित्रता बनेगी तभी पूरा आयुष्य भोगा जा सकेगा एव पूरे आयुष्य में चित्त की उज्जवलता तथा पवित्रता बनी रहेगी तो वह आयुष्य आनन्दपूर्वक ही व्यतीत होगा।

वर्तमान जीवन का वरदान चित्त की उज्ज्वलता

चित्त की उज्ज्वलता को इस रूप मे वर्तमान जीवन का वरदान मानिये क्योकि चित्त की उज्ज्वलता से विचारों का प्रवाह शुभ एव हितकारी होगा और विचारो का शुभ प्रवाह वचन तथा व्यवहार में ऐसी शुभता भर देगा कि आप सबके प्रिय बन जायेंगे। लोकप्रियता प्राप्त करने वाला व्यक्ति सब की श्रद्धा का पात्र होता है तो सबसे सुयश भी प्राप्त करता है। ऐसे व्यक्ति का वर्तमान जीवन सार्थक बन जाता है।

चित्त की उज्ज्वलता सभी दृष्टियों से जीवन के लिये लाभदायक सिद्ध होती है। चित्त जब उज्ज्वल हो जाता है तो अति चिन्ता, अति भय और अति शोक का द्वन्द भी समाप्त हो जाता है। फिर आयुष्य पर भी आघात नहीं लगता। इससे शरीर के स्वास्थ्य पर भी आघात नहीं लगते हैं। चित्त की उज्ज्वलता में चित्त की प्रसन्नता बनी रहती है तो रोग पैदा नहीं होते तथा शरीर स्वस्थ बना रहता है। शरीर स्वस्थ होता है तो धर्म कार्यो में तत्परता रहती है, क्योंकि कहा भी है– शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।

मनोविज्ञान मे जितनी प्रगति हुई है, उससे यह प्रमाणित होता जा रहा है कि शरीर के स्वास्थ्य तथा रोगो पर मन की अवस्था का बडा असर पडता है। मन मलिन, चिन्तातुर, भयग्रस्त या शोक मग्न रहता है तो उदासीनता या उद्विग्नता से स्वास्थ्य तो बिगडता ही है मगर इससे कई नये-नये रोगों की उत्पत्ति भी होती है। इसके विरूद्ध यदि चित्त उज्ज्वल, पवित्र तथा प्रसन्न रहे तो

कई रोग केवल ऐसी मन स्थिति से ही ठीक हो जाते हैं। मन की मुद्राओ से कैंसर की बीमारी मिटाई जाने लगी है तो मानसिक रोगों की चिकित्सा तो मन की गतिविधियो में परिवर्तन लाकर ही की जाती है। ग्रह नक्षत्रो के चक्कर और अधविश्वासों के भवर मानसिक रोगो के ही प्रकार हैं।

अत यह वर्तमान जीवन का सुखद वरदान होगा कि आप चित्त को गन्दगी मे न भटकनें दें, जो गन्दगी इस पर लगी हुई है उसको धो डालें तथा इसके स्वरूप को उज्ज्वल व पवित्र बना कर इसे सदा प्रसन्न बनाये रखें। कारण, इसके जो सुन्दर फल सामने आवेंगे उनसे वर्तमान जीवन धन्य बन जायगा एव जब वर्तमान जीवन धन्य हो जायगा-- इहलोक सुधर जायगा तो परलोक सुधर ही गया है– यह मान लेने मे कोई आपत्ति नहीं है।

पुरुषार्थी वीर स्वय की व सबकी सुरक्षा करता है

वीर पुरुष पुरुषार्थ की प्रक्रिया में विश्वास रखते हैं। वे कभी हताश होकर भाग्य के भरोसे नहीं बैठते हैं। ऐसे पुरुषार्थी वीर ही अपने वर्तमान जीवन की सहज सुरक्षा करने में सफल होते हैं तो अपने शुभ पुरुषार्थ से सबके जीवन की सुरक्षा करते हैं। इस वीरता पूर्ण पुरुषार्थ से जो चलते हैं, वे सबसे पहले तो इहलोक को सुन्दर बनाते हैं और उसके माध्यम से परलोक को भी उज्ज्वल बना लेते हैं।

एक बटन दबाने से एक बल्ब भी जलता है तो पूरा बिजली घर भी चलता है और ज्यों-ज्यों जीवन की सुन्दर उज्ज्वलता बढती जाती है, त्यो-त्यों बटन की शक्ति का भी विकास होता रहता है। यह विकास इहलोक में करलें तो वर्तमान जीवन पहले सुधर जायगा तो परलोक भी सुरक्षित बन जायगा।



21

मन की माला फेरे अन्दर वाला !

सुज्ञानी जीवा भजले रे जिन इक्कीसवा

विजयसेन नृप विप्राराणी, नमिनाथ जिन जायो।
चौसठ इन्द्र कियो मिल उत्सव, सुरनर आनद पायो।
भजन किया भव भवना दुष्कृत, दुख दुर्भाग्य मिट जावे।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दुर्मति निकट न आवे।
रे जिन इक्कीसवा

कवि ने सुज्ञानी भव्यात्माओं को सावधानी दिलाई है, कारण अज्ञानी आत्मा तो प्रार्थना के महत्त्व को हृदयगम कर नहीं सकेगी और उसके लिये पहले ज्ञान की आवश्यकता होगी, लेकिन जो ज्ञानी और सुज्ञानी आत्माएँ हैं, वे तो तुरन्त ही इक्कीसवें जिन भगवान् नेमिनाथ का भजन करके उनके परम स्वरूप पर चिन्तन आरभ कर सकती हैं।

सुज्ञान की सक्रियता ही प्रभु का भजन करने में सार्थक होती है। जब अन्दरवाला चैतन्य मन की माला फेरने लगता है तो वह तल्लीनता सुफलदाई होकर आदर्श बन जाती है।

प्रभु का भजन मन की माला मे गुथ जाय

इस जीवन के साथ प्रभु के भजन का प्रयोजन बहुत ही स्पष्ट है। प्रभु का भजन बाहर की चमडे वाली जीभ तक ही अटक कर रह जाय– वह तो दूसरी बात है, वरना प्रभु का भजन अगर मन की माला में गुथ जाय तो एक जन्म के ही नहीं जन्म-जन्मान्तर के दुर्भाग्यपूर्ण दु ख खतम हो जाते हैं क्योकि प्रभु भजन

से दुष्कृत्य करने की टेव मिट जाती है। मन मे जब प्रभु का स्वरूप बस जाता है तो वृत्तियॉ व विचार अपनी कुत्सितता छोडने लगते हैं। जब विचार शुभ होगे तो वचन भी शुभ निकलेंगे और कृत्य भी शुभ होगे। प्रभु के भजन मे जिस रूप से अन्त करण एकाग्रता से जुडता है, उस रूप में शुभता की दृष्टि से सम्पूर्ण जीवन प्रभावित बनता है।

प्रश्न उठ सकता है कि जन्म जन्मान्तर से पीछे पडे हुए दुष्कृत्य, दुर्भाग्य और दु ख कैसे मिटेंगे ? एक विष वृक्ष को उखाडना है तो उसकी जडो को उखाडना पडेगा। यदि सुज्ञानी आत्मा इस मानव जीवन मे दु ख की जडो को हिलाने व उखाडने के काम में प्रभु के अन्तरग भजन के साथ नहीं जुटती है तो मानव जीवन के सिवाय अन्य जीवन ऐसा नही मिलेगा जिसमें यह कार्य सम्पन्न किया जा सके। कोई दूसरी योनि ऐसी नहीं है जिस में दु ख, दुर्भाग्य एव दृष्कृत्यो को सर्वथा समाप्त किया जा सके। यह मानव जीवन ही इस कार्य के लिये उपयुक्त अवसर है तथा इस अवसर के सदुपयोग के प्रति सावधानी जरूरी है।

प्रभु महावीर ने समय-समय पर सावधानी दिलाई है और सम्बोधित किया है। यह सम्बोधन उन्होने न केवल जन साधारण को बल्कि गौतम जैसे अपने पट्ट शिष्य को भी दिया। उन्होने कहा हे गौतम, वर्तमान समय मे तुम्हारी शारीरिक स्थिति अच्छी है, उत्तम कुल एव उत्तम समय के साथ यह दुर्लभ साधु जीवन तुम्हें मिला है जो देवो व इन्द्रों के लिये भी शक्य नहीं है, अत इस साधु जीवन में रहते हुए एक क्षण के लिये भी प्रमाद मत करो अर्थात् इस सयमी जीवन मे सतत जागृत रहो।

क्या भगवान् का यह सम्बोधन केवल गौतम स्वामी के लिये ही था ? क्या हमारे और आप के लिये नहीं है ? यह सम्बोधन तो सभी भव्य आत्माओं के लिये है। जो सयम की साधना मे निरन्तर उद्यमशील बना रहता है, वही आत्मा का सर्वोच्च्य विकास भी साध सकता है। यह प्रमादहीनता तथा उद्यमशीलता तभी क्रियाशील बन सकेगी जब प्रभु का भजन मन की गहरी तरगो पर तरगित होने लगे– मन की माला मे प्रभु का दिव्य स्वरूप अकित हो जाय।

प्रभु का भावपूर्ण स्मरण
अन्तर्शक्तियो का जागरण

आज विश्व मे जो सामान्य जनजीवन बना हुआ है, उसमें यत्र तत्र अशान्त वातावरण परिलक्षित होता रहता है। ऐसा लगता है, जैसे एक क्षण के

लिये भी शान्ति का अनुभव नहीं हो रहा हो। ऐसे अशान्त वातावरण में शान्ति का कोई अमोघ उपाय है तो वह है प्रभु का भावपूर्ण स्मरण। कारण, प्रभु के भावपूर्ण स्मरण के साथ विचार, वचन एव व्यवहार की पवित्रता जुडने लगती है। समग्र जीवन की ऐसी पवित्रता में ज्यों-ज्यो निखार आता है, जीवन में शान्ति गहरी और आनन्ददायक बनती जाती है।

बाहर की जड शक्तिया जब तक मानव जीवन पर हावी रहती हैं, तब तक इन्द्रियॉ विषयातुर बनी रहती है, मन प्रलोभनों एव प्रतिशोधो मे डूबा रहता है तो समग्र जीवन की प्रवृत्तियो के साथ ऐसी घातक अपवित्रता लिपटती रहती है, जिसके अस्तित्व मे आत्मा एव उसकी आन्तरिक शक्तियॉ शिथिल एव निष्क्रिय हो जाती है। प्रभु के भावपूर्ण स्मरण से जिस आत्मा में जागृति उत्पन्न होती है तो वह सबसे पहले उसके स्वरूप पर फैली अपवित्रता को मिटाने का सकल्प करती है। क्योकि वह जानती है कि सारे दुष्कृत्यों, दुर्भाग्य एव दु खो की जड वह अपवित्रता ही है। आत्मा के सत्पुरुषार्थ से ज्यों-ज्यो वह अपवित्रता मिटती जाती है, त्यो-त्यों अन्तर्शक्तियों का जागरण सफल बनता जाता है।

अन्दर की शक्तियॉ जब सक्रिय बन जाती है तो फिर बाहर की शक्तियों की उच्छृखलता चल नही सकती है, बल्कि बाहर की शक्तियों को भी अन्तर्शक्तियों के अधीन बनकर उनके निर्देशो के अनुसार कार्य करना पडता है। जीवन मे जिसकी ऐसी साधना बन जाती है, वह व्यक्ति अपनी शारीरिक क्षमता का आत्मार्थी बनकर पूर्ण सदुपयोग करने लग जाता है। जितनी कठोरता से इस शरीर के माध्यम से धर्म साधना की जाती है तो उससे शरीर भी निखरता है और आत्मा भी निखरती है।

प्रभु की भक्ति का स्वरूप भजन के माध्यम से इसलिये हृदयगम किया जाय कि उसके बल से जीवन की अन्तर्शक्तियॉ सक्रिय बन सके। कई लोग 'कर फेरू माला' की नजर से भी माला फेरते रहते हैं। हाथ मे माला ली और घटो फेरते रहे, मगर यदि मन माला में नहीं है या माला मन मे नही गुथी है तो वह 'कर फेरू माला' काम की नहीं है। 'मन की माला, फेरे अन्दर वाला' ऐसी अवस्था होनी चाहिये। व्यक्ति का ज्ञान और उसके भाव मिल कर प्रभु की अर्चना करे तो प्रभु भक्ति का आदर्श स्वरूप प्रकट होने मे देर नही लगेगी। बाहर के मनके कुछ और होते हैं और मन के मन के कुछ और। जो मन के मनके फेरने लग जाता है, उसके द्वारा प्रभु का भजन कुछ निराला ही रग ले लेता है।

मन के मनके फेर ले, तो प्रभु को मन मे टेर ले।

यदि कोई साधक मन के मनके फेर ले तो सही मानें कि वह अपने मन में प्रभु को आवाज भी लगा देगा याने कि उसके मन मे प्रभु का स्वरूप उतर आवेगा। 'मन की माला और फेरे अन्दर वाला'– यही प्रभु के भजन करने की सही विधि है। सही विधि से मन की माला फेरते रहे तो जीवन की साधना पवित्र एव उज्ज्वल बनती रहेगी। यह उज्ज्वलता ऐसी होती है जिसका कथन नहीं किया जा सकता है, केवल अनुभव ही लिया जा सकता है। ऐसा अनुभव विकासशील आत्मा की सच्ची अनुभूति होती है। समुन्नत आत्मानुभूति ही सम्पूर्ण जीवन के स्वस्थ निर्माण का केन्द्र बिन्दु बनती है।

प्रभु की साधना के जीवन को लेकर चलने वाले साधक कई तरह से दुनिया के सामने आ सकते हैं। एक व्यक्ति साधक की पोशाक को धारण करके कह सकता है कि मैं साधक हूँ, साधना करने वाला प्रभु का भक्त हूँ– भगवान् की भक्ति मेरे रग-रग में चल रही है। तो क्या उसकी पोशाक और उसके कथन मात्र से उसको साधक का सम्मान दे दिया जाना चाहिये ? यह कोई जरूरी नहीं है। ऐसा कथन एक दभी व्यक्ति भी कर सकता है। दुनिया को गुमराह करने की नजर से वह यह भी कह सकता है कि मैं तो अन्दर से अत्यन्त ही पवित्र हूँ। सामान्य व्यक्ति तर्क नहीं करता, लेकिन सुज्ञ पुरुष पूछ सकता है कि जब अन्दर से तुम्हारा दिल पवित्र है तो फिर तुम्हारी वाणी में तीक्ष्णता क्यों है और तुम्हारा व्यवहार कटु क्यो हैं ? जिसका दिल पवित्र हो जाय तो उसके वचन और व्यवहार मे अपवित्रता टिक नही सकेगी। वास्तव मे जिस रूप में मनुष्य बोलता है और काम करता है, उससे ही उसके मन का अनुमान लगाया जाता है कि उस मन का स्वरूप कैसा होगा ? अन्त करण की पहिचान का प्रतीक वाणी और व्यवहार है। प्रभु को मन मे टेरने वाले साधक की वाणी और उसका व्यवहार उसकी साधना के अनुरूप होगा। इसीलिये कहा गया है कि मन के मनके फेर।

आन्तरिकता की पहिचान वाणी और व्यवहार से

आन्तरिकता की पवित्रता मधुरवाणी एव निर्मल व्यवहार मे प्रकाशित होती है। वाणी और प्रवृत्ति शरीर से ही फूटती है इसलिये यदि अन्त करण में पवित्रता

है– निर्मलता है तो वाणी उसी विधि से उच्चरित होगी तथा जीवन का व्यवहार पवित्रता के साथ भव्य दिखाई देगा। यह जीवन का थर्मामीटर है।

एक पानी की टकी मे कितने गैलन पानी है, उसका नाप गज से होगा या नाप के नम्बरो से होगा। नम्बर बाहर है, पानी भीतर है लेकिन टंकी के पानी के साथ नम्बरों का सम्बन्ध जुडा हुआ है जिससे पानी का नाप समझ में आ जाता है। पैट्रौल की टकी भी किसी न किसी रीति से नापी जा सकती है और यह जानकारी ली जा सकती कि उसमे कितना पैट्रोल बचा हुआ है तथा कितनी टकी खाली है ? इसको दिखाने वाला काटा होता होगा। तो काटा हो, गज हो या अन्य कोई मापक यत्र, किन्तु इसी तरह के बाहरी लक्षणों से जीवन को भी नापा जा सकता है कि वह कितना गुणपूरित है ? और यह काटा या गज है वाणी और व्यवहार। इस गज से यह जाना जा सकता है कि किस व्यक्ति मे जीवन सम्बन्धी गुण कितने भरे हैं ? अथवा जीवन का पैट्रोल कितना निकल चुका है और टकी कितनी खाली या भरी है ?

वाणी और व्यवहार से आन्तरिकता की सही पहिचान होती है। अगर वाणी सही है और व्यवहार सही है तो इस अनुमान मे मुश्किल से ही गलती निकलेगी कि उसका विचार भी सही होगा। अगर किसी की बोली अशिष्ट और कडवी है तथा उसके व्यवहार में ईर्ष्या, झूठ, धोखे आदि का रूख झलकता है तो यह आशका सही ही निकलेगी कि ऐसे व्यक्ति का मन भी कुटिल और अपवित्र होना चाहिये।

साधु जीवन के लिये तो बाहर का रूपक भी स्पष्ट होनी ही चाहिये। इसीलिये शास्त्रकारो ने जीवन की पवित्रता के विभिन्न रूपक बताये हैं। एक तो यह कि अन्दर से भी पवित्र और बाहर से भी पवित्र याने कि अन्दर बाहर एक सा पवित्र, जहॉ किसी प्रकार की शका को स्थान नहीं मिलता। दूसरा अन्दर से तो पवित्र किन्तु बाहर के वचन और व्यवहार मे उतनी श्रेष्ठता नहीं हो तो शास्त्रकार कहते हैं कि उसमें भजना है। तीसरा बाहर से कोई बोली और बर्ताव में ठीक लगे, मगर दिल का काला हो तो उसके हाथो बडा धोखा हो सकता है। चौथा भीतर बाहर से काला हो तो वह सबको काला दिखाई देता है। इसलिये किसी की आन्तरिकता की पहिचान विधिपूर्वक करनी है तो प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति की जाच करनी चाहिये।

भावों की स्थिति शुद्ध व्यवहार के साथ होते हुए भी कदाचित् उसका फल सामने ठीक नहीं आवे तो ज्ञानीजन कहते हैं कि सुफल जल्दी ही आ जावेगा। क्योकि शुभ कारण से शुभ कार्य ही बनना चाहिये। एक व्यक्ति जो

अन्दर से बुरे भाव रखता है तथा उसने व्यवहार ठीक किया और फल यदि अच्छा दिखाई दे रहा है तो सोचना चाहिये कि दुर्भावना से तो अच्छा फल आ नहीं सकता, लेकिन अच्छा फल पूर्वजन्म के कर्मो के शुभ उदय से आ गया होगा। फिर भी अभी जो दुर्भावना और धोखाधडी बरती गई है, उसका बुरा फल आगे जरूर मिलेगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि किसी की वाणी तथा उसके व्यवहार के थर्मामीटर से उसके हृदय की पवित्रता अथवा अपवित्रता नापी जा सकती है। ये गज और काटे किसी खास मामले में गलती कर जावे– वह बात अलग है, लेकिन इन का नापतौल ज्यादातर सही निकलता है। इस दृष्टि से मन की भलाई बुराई छिपती नहीं है, वह बोली और बर्ताव के जरिये प्रकट हो ही जाती है।

दुविधा मे डालने वाला दुरगादृश्य और परीक्षा की कुशलता

आन्तरिकता की पहिचान मे कई बार धोखा भी हो सकता है क्योंकि कई बार ऐसे दुरगे दृश्य सामने आते हैं कि निर्णय दुविधा भरा हो जाता है। कभी-कभी आचरण मे कुटिलता इस तरह खेलती है कि दुर्जन सज्जन दिखाई देता है और एक सज्जन दुर्जन सिद्ध हो जाता है। ऐसी दुरगी मनोवृत्ति में जब तक परीक्षा की कुशलता न हो तो बुद्धि धोखा खा जाती है।

एक दृष्टान्त प्रस्तुत है। दो रोगी दो चिकित्सकों के पास अपनी चिकित्सा कराने गये। एक रोगी बहुत धनाढ्य था, उसने डॉक्टर को दस हजार रुपये दिये और कहा कि मेरे पास एक लाख रुपये और हैं, आप कीमती से कीमती ईलाज करें, पैसे की कोई चिन्ता नहीं रखें और मुझे स्वस्थ बनादें। भीतर से डॉक्टर की नीयत सरकने लगी मगर बाहर से उसने भला मुखौटा लगाये रखा। ऑपरेशन से पहले उस ने डॉक्टर को दस हजार रुपये और दिये जबकि सरकारी अस्पताल मे उसको एक पैसा भी नहीं देना था और डॉक्टर को एक पैसा भी नहीं रखना चाहिये था। फिर उसने कहा– ये नब्बे हजार भी आपके पास सुरक्षित रख लीजिये ताकि ऑपरेशन के बाद मैं वापिस ले लूगा। डॉक्टर ने भलेपन के मुखौटै से कहा– इस रकम को मैं हाथ नहीं लगाऊगा, तुम अपने हाथ से इस अलमारी मे रखदो और ताला लगा कर चाबी अपने पास लेलो। रोगी डॉक्टर की ईमानदारी से बडा खुश हुआ। अब डॉक्टर ने सोचा– न रहे

बास, न बजेगी बासुरी, सो ऐसा ऑपरेशन किया कि पछी उड जाय और सारी राशि उसके हाथ लग जाय। लेकिन किस्मत की बात कि गलत ढग से किया गया ऑपरेशन भी कामयाब हो गया और अच्छी चिकित्सा के लिये डॉक्टर की प्रशसा होने लगी, हालाकि डॉक्टर दु खी कि नब्बे हजार की राशि उसके हाथ से निकल गई।

दूसरा रोगी दूसरे चिकित्सक के पास जाकर बोला– डॉक्टर सा, मैं एक दम गरीब हूँ, न आपको देने को कुछ है, न दवा का ही पैसा है। डॉक्टर दयालु था। अपने पास से पैसा खर्च करके बडी लगन से उसने ऑपरेशन किया मगर सयोग बुरा निकला कि वह रोगी बचाया नहीं जा सका। उस चिकित्सक की सब और निन्दा होने लगी।

अब बताइये कि पहले चिकित्सक की प्रशसा कितनी सही और दूसरे चिकित्सक की निन्दा कितनी सही है ? ऐसे दुरगे दृश्यों में आन्तरिकता का निर्णय अवश्य ही कठिन हो जाता है, लेकिन प्रभु के भाव पूर्ण भजन से जिसका मन पवित्र हो गया है, वह छिपी हुई अपवित्रता को भी भलीभाति पहिचान लेता है।

जिस प्रकार यह दो डॉक्टरों का रूपक है, उसी प्रकार दो भजन करने वाले साधकों का भी रूपक है। एक साधक ऐसा होता है जो ऊपर से राम नाम जपता है और भीतर मतलब का मौका देखता रहता है– राम नाम जपना और पराया माल अपना। ऐसा साधक दुरगी चाल से चलता है और भोले प्राणियो को ठगता रहता है। लेकिन सही साधक अन्दर और बाहर एक सरीखा भव्य रूप लेकर चलता है। दुनिया अपनी चाल मे कभी उसको बुरा भी साबित कर देती है मगर एक दिन जब सत्य प्रकट होता है तो उस साधक की वास्तविकता प्रकट हो जाती है।

अज्ञानी लोग ही दुरगे दृश्यों मे धोखा खाते हैं, इसलिये सुज्ञानी जीवो को कवि ने सम्बोधित किया है कि वे परीक्षा मे कुशल बनकर वस्तु स्वरूप का ज्ञान करें।

जीवन की सच्ची साधना
अन्दर-बाहर की एकरूपता

भगवान् ने कहा है कि अन्दर-बाहर की जब पूर्ण एकरूपता बन जाती है तभी जीवन की साधना सच्ची बनती है। सच्चा साधक दुनिया के पीछे नहीं दौडता– दुनिया क्या कुछ कहेगी– इसका भी वह ख्याल नहीं रखता। वह तो

इस बात का पूरा ख्याल रखता है कि अन्दर-बाहर की एकरूपता याने कि विचार, वचन तथा व्यवहार की समता बराबर बनी रहे। कही भी उसका स्वरूप बहुरुपिये की तरह नहीं दिखाई दे।

जहॉ कही बहुरुपियापन दिखाई देता है, समझिये कि वहॉ साधना में स्वार्थ की दृष्टि घुस रही है और दमपूर्ण व्यवहार बन रहा है। जहॉ बहुरुपियापन होता है, वहॉ अन्दर बाहर की एकरूपता का भी अभाव होता है। एक ऊपर से साधु बनकर चल रहा है और दुनिया को बताता है कि कहीं आचार मे वह जो दोष लगा रहा है, उसका प्रयोजन सार्वजनिक भलाई है। क्या इस कथन पर विश्वास किया जा सकता है ? जो अपनी भलाई नहीं सोच सकता, वह भला दूसरों की भलाई क्या करेगा ? दूसरों की भलाई के लिये अपने दोष को आरोपित करके वह दूसरो को भी ठगता है तो अपनी आत्मा को भी धोखा देता है। ऐसे लोग वाणी के व्यायाम, अखबारो मे प्रचार, दुनिया में प्रसिद्धि पाने की लालसा आदि के पीछे-पीछे भागते हुए अपने आन्तरिक जीवन को खोखला बनाते जाते हैं। इन व्यक्तियों का भेष चाहे भक्तो या साधुओ का हो, वे अन्दर से थोथे और काले होते हैं। समय आने पर एक दिन वे अनावृत्त हुए बिना नहीं रहते। जिस रोज उनका पर्दा उठता है, दुनिया उनकी असलियत को पहिचान जाती है।

अन्दर बाहर की एकरूपता जब पुष्ट बन जाती है तो वैसा साधक फिर चारदिवारी में बधा हुआ नहीं रह पाता है। फिर वह ससार की पोशाक में भी नहीं रहता है और साधु धर्म अगीकार कर लेता है। गृहस्थ अवस्था मे केवल ज्ञान भी प्राप्त हो जाय तो उसके बाद भी वह दीक्षा ले लेता है। भरत चक्रवर्ती ने आरिषा भवन में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तो तुरन्त वे गृहस्थाश्रम छोड कर दीक्षित हो गये। जैसा साधना का क्रम बनता है, वैसा ही जीवन भी अपनाना पडता है।

आपके सामने जिस तरह भाई बहिन दीक्षा के लिये उत्साहित हो रहे हैं, उससे स्पष्ट है कि इन्होने जीवन की सच्ची साधना करने का अपने मन मे सकल्प सुदृढ बना लिया है। मुझे इनको यही कहना है कि वे अन्दर बाहर की एकरूपता स्थापित करने के लिये सतत सघर्ष करते रहे।

मन की पवित्रता से
चैतन्य को प्रदीप्त बनावे !

अन्दर बाहर की एकरूपता का मूल मन की पवित्रता पर ही टिकता है

और टिका हुआ रहता है। मन की पवित्रता बनी रहती है तो वचन और व्यवहार की पवित्रता निर्द्वन्द चलती रह सकती है, लेकिन अगर मन की पवित्रता ही डगमगा जाती है तो बाहर की पवित्रता को निभा पाना कठिन हो जाता है। अन्दर बाहर की पवित्रता जितनी दृढता से स्थापित हो जाती है तो उस रूप में भीतर रहे हुए चैतन्य का स्वरूप भी प्रदीप्त बनता जाता है।

अन्दर वाला जब सतत जागृत बना रह कर मन की स्थिरता एव एकाग्रता के साथ माला फैरता है याने कि प्रभु का स्मरण करता है तो उसके अन्त करण मे प्रभु के परम स्वरूप की छाप अकित होने लग जाती है। ऐसी अवस्था मे 'स्व' उस 'परम' को समर्पित हो जाता है। चैतन्य की दीप्ति तब निरन्तर प्रकाशमान होती चली जाती है।

इसलिये प्रत्येक भाई बहिन को प्रभु की भक्ति अपने हृदय मे बसा कर समर्पण के साथ यथाशक्ति आगे बढने और अन्दर बाहर एकरूपता लाने की कोशिश करनी चाहिये। इस स्थिति के साथ सभी चलें कि प्रत्येक अपनी शक्ति के अनुसार साधना कार्य करे एव मर्यादा को मानकर चले। यही प्रभु के प्रति सच्ची भक्ति होगी तथा सुज्ञानी जीवों को कवि का सम्बोधन सफल हो सकेगा। ऐसी सहज भक्ति से जन्म-जन्म के दु ख मिट सकेगे और आत्मा परमात्मा के समीप पहुँच सकेगी।



22

देखें कि क्या कर रहे हैं : क्या करना चाहिये ?

भजन किया भव भव ना दुष्कृत,
दु ख दुर्भाग्य मिट जाये।।
काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा
दुर्गति निकट न आवे।।
सुज्ञानी जीवा, भजलोरे जिन इक्कीसवा

आत्म स्वरूप के साथ लगे हुए तथा लगने वाले विकारी भावों को कैसे रोके, क्लेश एव कलुषितता को कैसे दूर करें एव जीवन में पवित्रता का परम सुख कैसे प्रकट हो– इसके लिये प्रार्थना मे कवि ने स्पष्ट सकेत दिया है कि हे भव्यात्माओं, तुम सबसे पहले सुज्ञानी बनो।

ज्ञान की विद्यमानता, पर, 'सु' और 'कु' का भेद

ज्ञान चैतन्य का लक्षण माना गया है, अत चैतन्य तत्त्व में न्यूनाधिक मात्र मे ही हो, पर ज्ञान की विद्यमानता अवश्य होती है, क्योंकि ज्ञान का सर्वथा अभाव तो जडतत्त्व मे होता है। ऐसी अवस्था अवश्य है कि भिन्न-भिन्न योनियों की दृष्टि से एव इन्द्रियों की शक्ति के अनुसार ज्ञान की मात्रा में बडा अन्तर होता है। यह अन्तर इसी प्रकार होता है जैसे कि एक पर्वत की स्थिति में तलहटी होती है, चढाई का क्रम होता है तो उच्चतम शिखर भी होता है।

ज्ञान की इस विद्यमानता के भी दो पक्ष होते हैं, जिनके अनुसार ज्ञान दो तरह का माना गया है। एक सुज्ञान तथा दूसरा ज्ञान। ज्ञान दोनो होते हैं मगर पहले के साथ 'सु' तथा दूसरे के साथ कु का विशेषण लगा हुआ है। सु का अर्थ श्रेष्ठ याने अच्छा एव कु का अर्थ है निकृष्ट याने बुरा। कुज्ञान से आत्मा ससार

के दुख चक्र मे गोते खाती है और अपार दुख का अनुभव करती है। कुज्ञान के साथ आत्मा चाहे अकेली रहे, चाहे परिवार मे रहे या किसी भी क्षेत्र में काम करे, अन्ततोगत्वा वह दुखी और अशान्त ही बनती है।

कुज्ञान के वश में चलने वाला व्यक्ति अपनी दुर्भावना एव अपने दुर्व्यवहार के कारण समाज मे अप्रतिष्ठित रहता है तो किसी भी कार्यक्षेत्र मे उसको मान्यता नहीं मिलती है। रात दिन वह अपने कलुषित विचारों में– घात प्रतिघातो मे तथा दूसरों की अहित चिन्ता मे डूबा रहता है। चाहे ऊपर से वह भलामानुस बना रहे और लोग उसे सही रूप में नहीं पहिचान कर प्रारभ में कभी सम्मान देने भी लग जाय, लेकिन आखिर जाकर कुज्ञानी का काला चेहरा छिपा हुआ नही रह सकता है। उसका शरीर अच्छा दीखे, पोशाक वह सुन्दर पहने, लेकिन भीतरी जीवन की दशा जब ठीक नही होती तो ऊपर की सजावट भी फीकी लगती है।

प्रार्थना में भव्य आत्माओ को इसी कारण सम्बोधित किया गया है कि वे अपने ज्ञान के स्वरूप पर गहरी दृष्टि डाल कर परीक्षा करे कि उसके साथ 'सु' लगा हुआ है या कु लगा हुआ है। आत्मार्थी व्यक्ति अपने विवेक को जागृत करे और देखें कि वे क्या कर रहे हैं, जब कि वस्तुत उन्हे क्या करना चाहिये ? यह परीक्षा दृष्टि निरन्तर चिन्तन की पद्धति एव साधना की अवस्था में ढल जानी चाहिये।

अपना व्यवस्थित कार्यक्रम बनावे,
अपनी आलोचना आप करे ।

जो व्यक्ति आत्म-विकास को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं, वे कई अशो मे अन्तर्मुखी हो जाते हैं। आप जानते हैं– एक अन्तर्मुखी व्यक्ति होता है तो दूसरा बहिर्मुखी। जिसका रूख अन्दर मे लगा रहे– जिसका सारा जीवन भीतर से सचालित होता हो, वह अन्तर्मुखी कहलाता है। बहिर्मुखी व्यक्ति का रूख बाहर ही बाहर दौडता है। वह अधिकाशत बाहर देखता है और बाहर के ही पदार्थो को प्राप्त करने की लालसाएँ बनाता है। भीतर के बारे में उसकी समझ कच्ची होती है, इस कारण सुख और शान्ति पाने की कोशिश भी वह बाहरी क्षेत्रो मे ही करता है। किन्तु एक अन्तर्मुखी व्यक्ति जल में कमल की तरह ससार मे रहता है। वह बहिर्मुखी व्यक्ति की तरह ससार के सभी कार्य करता है। लेकिन समता भाव के साथ। वह अपनी आत्मा को देखता है, उसी को पूछता है तथा उसी से निर्देश प्राप्त करता है।

आप भी अपने मुख को अन्दर करे और अभ्यास बनावे तो आत्म-स्वरूप की झलक पा सकते हैं। इसके लिये आपको प्रतिदिन का एक सुव्यवस्थित कार्यक्रम बनाना चाहिये तथा उसके अनुसार ही अपने जीवन के क्रिया कलापों को ढालना चाहिये। इसके साथ ही प्रतिदिन आपको अपनी आलोचना आप करनी चाहिये कि आपने कार्यक्रम का बराबर पालन किया या नहीं तथा जीवन को जिस नैतिकता एव पवित्रता की लीक पर चलाना चाहिये, उस तरह चलाया या नहीं ? इस तरह के चिन्तन को यदि आप अपनी जीवन पद्धति के रूप में अपना लेंगे तो वह चिन्तन एक नियमित व्यवस्था का रूप लेकर आपकी क्रमिक साधना का अग बन जायगा।

आप विचार करे कि चौबीसों घटे आप एक ही काम में नहीं लगे रह सकते हैं। कोई चाहे कि मैं चौबीसो घटे व्यापार करता रहूँ या कि किताब पढता रहू तो वह नहीं होता है। एक काम कुछ समय तक करके चाहे विश्राम करलें या काम को बदल लें, तभी काम चल सकता है। इसलिये अपना कार्यक्रम इस रूप मे नियमित बनावें कि कार्य शक्ति अधिक से अधिक सगठित बनी रहे और आप उसके बल से अधिक से अधिक कार्य कर सके। इस क्रम में आलस्य को त्यागने का पूरा प्रयत्न रहना चाहिये। जैसे कि नींद तो आवश्यक समय तक ही आती है, फिर कई भाई वैसे ही सोये रहते हैं तो यह समय की बरबादी है। आवश्यक निद्रा के अलावा उस समय को आलस्य मे नहीं खोना चाहिये तथा उसका सदुपयोग किया जाना चाहिये।

निर्धारित कार्यक्रम की पूर्ति सही ढग से होती है या नहीं– इसके लिये स्वय अपनी आलोचना करने का भी क्रम रखना चाहिये। एक नजर पीछे कि क्या गलत किया और क्या नहीं किया तो एक नजर आगे कि क्या करना चाहिये– इस आलोचना की नजरे होनी चाहिये।

कार्यक्रम का निर्धारण एव आलोचना का क्रम

यदि मनुष्य विवेकपूर्वक नियमित कार्यक्रम बना लेता है कि मुझे अमुक समय में अमुक कार्य पूरे करने हैं या कि रात के दस बजे सोकर सुबह चार बजे उठ जाना है और सकल्प करके मन को आज्ञा दे देता है तो आपके निर्धारित कार्य पूरे करने में कोई अडचन नहीं आयगी तथा निद्रा भी समय पर खुल जायगी। जगते ही आप आलस्य न करें और वन्दन का कार्य करले तो आलस्य दूर हो जायगा। जागते ही वन्दन और वन्दन के बाद शौचादि क्रिया से निवृत्त

होकर एक सामायिक करले तो आलोचना भी हो जायगी और भविष्य की दृष्टि भी स्पष्ट बनती रहेगी।

घटा भर मात्र सामायिक मे बैठकर अपने जीवन के सभी पक्षो को देखने की कोशिश करे कि पिछले चौबीस घटो मे क्या-क्या नही करने लायक कार्य किया है और क्या-क्या करने लायक कार्य छूट गया है ? दोनो स्थितियो के साथ 'क्यो' लगाकर विचार करे। एक घटे भर के लिये अपने को सासारिक वृत्तियों से दूर हटालें और सोचले कि जैसे आपने उतने समय के लिये ससार का परित्याग कर लिया है। वैसे भी सामायिक मे सावद्य-योग का तो त्याग करना ही होता है। आपकी आलोचना अपने कर्त्तव्यो की दृष्टि से होनी चाहिये।

एक व्यक्ति के अपने साथ, अपने परिवार के साथ, अपने समाज तथा राष्ट्र के साथ तथा विभिन्न क्षेत्रो एव वर्गों के साथ भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य होते हैं तथा अन्य मानवीय एव आत्मिक कर्त्तव्य भी होते हैं। सच पूछे तो यह कर्त्तव्यों का समूह ही धर्म कहलाता है। अब जब प्रतिदिन आलोचना के क्षणों में बैठें तो सोचे कि परिवार के सदस्यो के साथ आपने अपने कर्त्तव्यों का भलीभाति निर्वाह किया है या नही ? फिर सोचे कि अगर आपके कर्त्तव्य पालन मे कमी नहीं रही तो फिर घर मे क्लेश क्यों हुआ, आपस मे टकराये क्यो ? उन कारणो को ढूढें जिनके कारण परिवार में अशान्ति हुई। पहले तटस्थ भावना से अपनी त्रुटियों की ओर देखे। अपनी त्रुटियॉ आप मिटावें, लेकिन दूसरों की त्रुटियो के लिये भी सीधा बुरा भला न कहें बल्कि मधुरता से उनको उनकी त्रुटियों का भान करावें इस तरह कि वर्तमान अशान्ति मिट जावे। आप इस काम मे अगर उत्तेजना ले आये तो फिर दोनो एक स्तर पर आ जायेगे। क्रोध नही लाकर शान्ति से ही समझावे।

अपने दैनिक कार्यक्रम का निर्धारण इस प्रकार करें कि अपने लौकिक कार्यो के नैतिकता पूर्वक निर्वाह के साथ सामायिक प्रतिक्रमण, प्रार्थना, सत सेवा आदि धार्मिक क्रियाओं के लिये भी यथोचित समय निकल आवे। इन कार्यक्रमो में आवश्यक फेरबदल भी करना पडे तब भी आत्मलोचना के क्रम को कभी नहीं तोडे ताकि रोज के जीवन की कमियॉ रोज देख लेने और उन्हे मिटाते रहने में पवित्रता का सचार होता जाता है। भीतर और बाहर का सन्तुलन तथा परस्पर नियत्रण की स्थिति बन जाने के बाद तो मन पर भी काफी अकुश लग जाता है जिससे पवित्रता विचार, वाणी और व्यवहार को समरस बनाती हुई गहरी होती जाती है।

विचार, वाणी एव व्यवहार का परस्पर सहयोग तथा नियत्रण

विचार, वाणी, व्यवहार अर्थात् मन, वचन एव काया का परस्पर सहयोग बनना चाहिये तथा इन तीनो के बीच पारस्परिक नियत्रण की व्यवस्था भी कायम की जानी चाहिये। यह व्यवस्था इस रूप मे होगी कि जैसे मन में कोई विकार जागा और वह डगमगाने लगा तो आप सामायिक लेकर बैठ गये याने कि मन पर काया ने नियत्रण कर लिया। कारण, सामायिक ले लेने के बाद एक मर्यादा बन जाती है और उस समय मे मन वापिस ठिकाने पर आ सकता है। मन मे विचार ठीक चल रहा है, लेकिन भूल से वचन कठोर निकल गया तो मन और काया उस पर नियत्रण करले याने कि हाथ जोडकर अपने कठोर वचन के लिये क्षमा माग ली जाय। वैसे मन ठीक रास्ते पर चल रहा हो तो वचन और काया भूल कर सकते हैं, उद्दड नही बन सकते।

जैसी परिवार मे शान्ति कायम रखने की कोशिश की जाय, वैसी ही शान्ति स्थापना की कोशिश जाति, समाज, मोहल्ला, ग्राम, नगर, राष्ट्र और विश्व तक के क्षेत्र मे अपने-अपने स्तर से की जा सकती है। सभी क्षेत्रो मे आप स्वय तो क्रोध या उत्तेजना को त्याग ही दे, बल्कि सामने वाले की उत्तेजना के बावजूद भी आप उत्तेजना न लावे। इतना जब अभ्यास हो जाय तो उससे भी आगे बढे और वह इस तरह कि सामने वाले की उत्तेजना के समक्ष भी आप शान्ति का व्यवहार करे एव उसकी अशान्ति को भी दूर करें। अपने से जो त्रुटि हो जाय, उसके लिये तो तुरन्त क्षमा प्रार्थना कर ले और अपना पश्चात्ताप करके भी शुद्धिकरण कर ले। ऐसी व्यवस्था अपने विचार, वचन तथा व्यवहार की बना लेगे तो सभी क्षेत्रो मे झझट बढने का मौका नहीं आवेगा और शान्ति बनी रहेगी। शान्ति बनी रहेगी तो सहयोग बना रहेगा और ऐसे शान्त एव सहयोगपूर्ण वातावरण से आत्म कल्याण के अधिक अवसर सुलभ हो सकेगे।

मन, वचन एव काया के परस्पर सहयोग तथा परस्पर नियत्रण की प्रणाली ठीक तरह से जम जायगी तो भीतर की कई समस्याएँ सहज ही में सुलझती रहेगी। मन, वचन एव काया का पहला सघर्षण तो परिवार मे होता है, अत परिवार में अगर शान्ति कायम कर लेते हैं तो मन की चचलता की बहुत कुछ समस्या हल हो जाती है। एक तो परिवार के साथ शान्तिपूर्ण वातावरण बन जाने से मन की उत्तेजना की वृत्ति शिथिल पड जाती है और दूसरे उसका शान्ति का अभ्यास पड जाने से अन्य क्षेत्रों मे भी उत्तेजना का प्रसग मुश्किल से

ही आता है। धीरे-धीरे मन की गतिविधियॉ शान्ति सम्पन्न बन जाती है।

परस्पर सहयोग एव परस्पर नियत्रण का क्रम मन को गभीर, सहनशील और शान्त बना देता है तथा मन के प्रभाव से वचन और काया की शान्ति भी पनप जाती है।

क्रोध आदि विकारो के शमन की कला सीखिये !

याद रखिये कि मन को निष्क्रिय नही बनाना है– उसकी गति को रोकना नहीं है। जो रोकनी है वह उसकी गलत रास्ते पर बढ रही विगति को रोकनी है, बल्कि यो कहिये कि उस रास्ते पर से उसकी गतिं को सत्पथ की तरफ मोडनी है। मन गतिशील रहे, लेकिन अपने क्रोध आदि विकारों के कीचड मे घुसने और बढने की दिशा मोड ले। वह इन विकारों को शमन करने की कला सीखे तथा आत्मीय सद्‌गुणो की विकासशील दिशा मे आगे बढे।

मन को एक साथ रोकना चाहेगे तो वह रोका भी नही जा सकेगा और हकीकत मे मन को रोकना भी नही है, सिर्फ उसके रास्ते को बदलना है। मन इतना तेज और चचल है कि इसको उस समय अकुश लगाने की क्षमता आप में पैदा हो जानी चाहिये जब वह सत्पथ से डिगने लगे और गलत रास्ते पर मुडने लगे। घोडे पर बैठना है तो अबलग घोडे पर ही बैठना चाहिये, टट्टू पर क्या बैठना ? मगर लगाम को थामने की हाथ में इतनी ताकत होनी चाहिये कि जहॉ लगाम को झटका दिया, वहीं अबलग घोडे को भी ठहर जाना पडे। मन को भी इसलिये टट्टू नही बनावे, अबलग घोडा ही रखें, मगर उस पर इच्छित नियत्रण की शक्ति अपने भीतर अवश्य पैदा कर लें।

घोडे के समान ही मन को हमेशा रास्ते पर लगाये रखे– रास्ते से कदापि भटकने न दे। इस मन को अपना सकल्प बतादे कि तू जो इस शरीर मे आया है तो अपनी दुर्दशा भी मत बना और शरीर को भी व्यर्थ मत कर। तू रास्ते-रास्ते चल तथा क्रोध आदि सभी विकारो के शमन की कला भली प्रकार सीख ले ताकि सबके साथ शान्ति, सहनशीलता और धीरज का बर्ताव किया जा सके। तू ऐसा शान्त बन जा कि सामने वाले की उद्दडता का जवाब भी शान्ति से दे, क्योकि आग कभी भी आग से नही बुझाई जाती है। आग बुझाने के लिये ठडे पानी की ही जरूरत पडती है। इसलिये उत्तेजना का विरोध शान्ति से करने के बाद ही उत्तेजित को भी शान्त बनाया जा सकेगा। उत्तेजना एव क्रोध के सामने सहनशीलता और मधुरता को करदे तो सामने वाला पानी-पानी हो जायगा।

कदाचित् तत्काल नहीं भी हो तो पश्चाताप की भावना आने के बाद वह अवश्य शर्मिन्दा महसूस करेगा। इसलिये आप को अपने सामने सुपरिणाम नहीं आने के बावजूद भी अपनी सहनशीलता को नही छोडनी है। आप ने अपना कर्त्तव्य समझ कर सही व्यवहार कर लिया तो आपको किस बात की चिन्ता है ? इस लिये क्रोध हो या कोई भी दूसरा विकार उसको विवेकपूर्वक शमन करदे। शमन करने की कला को अपनी जीवन पद्धति बना ले ताकि उस पद्धति का वास्तविक शान्त स्वरूप देख समझकर दूसरे लोग भी अनुसरण कर सकें।

ध्यान लगावे कि "मैं कौन हूँ, कहॉ से आया हूँ और कहॉ जाना चाहता हूँ।"

ध्यान लगावे कि मैं कौन हूँ ? जानते हैं आप कौन हैं ? आप अपना नाम बता देगे। यह नाम तो लौकिक है। आप चैतन्य हैं– आत्मा के रूप मे आप अनश्वर और शाश्वत हैं। यह आत्मा ऐसी है जो पूर्ण उज्ज्वल स्वरूप बनाकर परमात्मा बन जाती है। तो आप परमात्म स्वरूप हुए। जाना आपने कि आप कौन हैं ? प्रत्येक भव्य आत्मा का मूल में ऐसा ही स्वरूप होता है।

आप कहॉ से आये हैं ? हैं कहीं पता लिखा हुआ ? जहॉ से भी आये हैं, महान् पुण्यवानी के बल से इस मानव जीवन मे आये हैं। यह मानव जीवन देवताओं के लिये भी दुर्लभ है क्योकि यही ऐसा जीवन है जिसमे आत्मा अपना सम्पूर्ण पराक्रम दिखाकर अपने को सिद्ध पद की ओर गतिशील बना सकती है। मुक्ति दिलाने वाला यही मानव जीवन माना गया है।

अब बताइये, आप जाना कहॉ चाहते हैं ? आप कहेगे कि चाहने से क्या होता है ? मैं कहता हूँ कि आप चाहोगे, वही होगा। क्योकि जैसा चाहोगे, वैसा करना होगा तथा वैसा करोगे तो चाहना के मुताबिक फल जरूर मिलेगा। वैसे तो मनुष्य जन्म के बाद मुक्ति की ही चाह रखनी चाहिये, लेकिन पचम काल मे मुक्ति का योग नहीं है तो इस जन्म के बाद फिर मनुष्य जीवन की ही चाह रखे तो धर्म साधना का पुनीत अवसर फिर मिलेगा, मगर फिर मनुष्य जीवन की चाह रखने के साथ वैसी करनी पडेगी। मनुष्य जन्म के उपयुक्त त्याग और साधना बन पडेगी तभी मनुष्य जन्म के आयुष्य का बध हो सकेगा।

आप इन प्रश्नों को मन में बार-बार दोहराइये तथा अपने अन्त करण से इनके उत्तर मागिये । आपको अनुभूति होगी कि मैं चैतन्य हूँ– सत् चित् एव आनन्द रूप हूँ। इसके बाद आप समझ जायेंगे कि मैं आत्मरूप हूँ, शरीर रूप जड नहीं। मेरी आत्मा ने शरीर धारण कर रखा है, इसलिये मेरा बाहरी रूप

शरीर है। ऐसी अनुभूति से आपका चैतन्य जागृत, नियन्ता एव सक्रिय बन जायगा।

फिर देखे कि आप क्या कर रहे है, आपको क्या करना चाहिये ?

अपनी आत्मानुभूति के बाद आप देखें या कि आत्मालोचना करे कि आप क्या कर रहे हैं ? ऐसा इस दृष्टि से देखे कि आपको क्या करना चाहिये और जो करना चाहिये, वैसा कर रहे हैं अथवा नहीं ? जो करना चाहिये, वह अगर आप कर रहे हैं तो समझिये कि आप सही मार्ग पर चल रहे हैं एव आपको लगे कि जो करना चाहिये, वह आप नहीं कर रहे हैं तो आप को समझना चाहिये कि आप गलत रास्ते पर जा रहे हैं तथा वहा से आपको हटकर सही रास्ते पर चले जाना चाहिये। यही आत्मलोचना का मुख्य प्रयोजन तथा सार माना गया है।

साथ ही साथ यह भी सोचिये कि मैं जिस आत्मलोचना एव आत्म परीक्षण की पद्धति पर चल रहा हूँ, उसके कोई विशिष्ट ज्ञाता महात्मा मिले तो उनसे अपना मार्गदर्शन लेलू और उनके निर्देश से आगे खोज में बढू। ऐसा चिन्तन का कार्यक्रम प्रतिदिन रखे तो आपको अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा। ऐसी शान्ति का निरन्तर अभ्यास करते रहेगे तो वह शान्ति आपकी सस्कृति मे ढल जायगी। आपकी अभिलाषा बन जायगी कि आपको सदा ऐसी शान्ति मिलती रहे। ससार के वातावरण मे उथल पुथल होगी तब भी वैसी मनोदशा मे आपके मन की शान्ति भग नहीं होगी। आप सदा ही धैर्य के साथ आगे बढते चले जायेगे।

आत्मलोचन, आत्म परीक्षण, आत्म दर्शन एव आत्म चिन्तन की ऐसी जीवन पद्धति का निर्माण सुज्ञानी आत्माएँ ही कर सकती हैं। सुज्ञान का ही ऐसा माध्यम है जिसकी प्रेरणा से ऐसी जीवन पद्धति की व्यवस्था की जाती है। इसीलिये प्रार्थना मे सुज्ञानी जीवो को प्रेरित किया गया है कि वे नेमिनाथ भगवान् का भजन कर के अपने जन्म जन्मान्तरो के दुष्कृत्यो, दु खो एव दुर्भाग्य को समाप्त करले। यह होगा कैसे ? कहा गया है कि काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा आदि विकारो को पहले मिटावे और इनके मिटाने से दुर्मति याने कि दुष्ट बुद्धि फिर निकट भी नही आवेगी। जब सुमति ही पास में रहेगी तो वह सुज्ञान का ही अनुगमन करेगी। जब सुज्ञान का प्रकाश फैला हुआ रहेगा तो आप वही करेगे जो आपको करना चाहिये तथा आप वह जो करेगे उसे भी विधिपूर्वक ही करेंगे।

कर्त्तव्यबोध की दिशा
विधि का सकेत

आपको क्या करना चाहिये– इसका जब ज्ञान हो जाय तो उसे कर्त्तव्य बोध कहते हैं। कर्त्तव्यबोध की दिशा मे चल पडना ही धर्म की दिशा में आगे बढना है। सुज्ञान इसमे कर्त्तव्यबोध के बाद कर्त्तव्य विधि का भी सकेत दे देता है। वह विधि पालनकर्त्ता को कर्त्तव्यनिष्ठ एव धर्मनिष्ठ बना देती है।

जिस विधि का सकेत दिया गया है, वह तो अग्रेजी वर्णमाला की ए बी सी डी की तरह प्राथमिक है। अब कल्पना करें कि विद्यार्थी की तमन्ना एम ए पास करने की है तो उतने अध्ययन मे कितना समय लगेगा ? अगर लौकिक पढाई में भी इतना समय लगता है तो आध्यात्मिक अध्ययन और चिन्तन का उच्चस्तर प्राप्त करने में तत्परता और समय तो चाहिये ही। फिर भी आध्यात्मिक क्षेत्र तो भावना मूलक होता है और उसमे साधक उत्कृष्ट श्रेणी मे पहुँच जावे तो वर्षों का काम पलो मे भी पूरा हो सकता है।

आप भी भौतिकता के रोगी हैं और रोगी को वही औषधि लेनी चाहिये जो उसके रोग को इस तरह मिटा दे कि उस रोग का नामोनिशान न रहे तथा भविष्य में भी उसके फिर उभरने की आशका भी पैदा नही हो एव रोग निवारण के बाद शक्ति भी बढ चले। आपके रोग के लिये ऐसी औषधि आध्यात्मिक ज्ञानी वीतराग देवों ने बताई है जिसके लेने से आत्मा का रोग मिटेगा तथा आत्म बल बढेगा। इस औषधि को जान लेना ही कर्त्तव्य बोध की दिशा है तथा इसको ग्रहण करना विधि का सकेत है।

सम्यक् कर्त्तव्य बोध के अनुसार आपको जो करना चाहिये, वैसा ही विधिपूर्वक करते रहने का यदि आप अभ्यास कर लेते हैं और अपने कर्त्तव्यो को अपने आत्म चिन्तन की कसौटी पर कसकर उनके खरेपन की पहिचान करते रहते हैं तो आपका सुज्ञान कभी 'कु' का विशेषण धारण नहीं करेगा, बल्कि उसका 'सु' भी श्रेष्ठ और उत्कृष्ट बन कर आत्मस्वरूप को पवित्र एव उज्ज्वल बना देगा। यही कर्त्तव्यनिष्ठा की गन्तव्य स्थिति होती है तो धर्मनिष्ठा का चरम आदर्श, जो मुक्ति के द्वार खोल देता है।



23

शाश्वत शान्ति : अहिंसा के अंचल में

श्री जिन मोहनगारो छे, जीवन प्राण हमारो छे।
समुद्र विजय सुतश्री नेमिश्वर, जादव कुल को टीको।
रत्न कुक्ष धारिणी शिवादे, तेहनो नन्दन नीको।
सुन पुकार पशु की करुणा कर, जानि जगत सुख फीको।
नव भव नेह तज्यो जोबन मे, उग्रसेन नृप घी को।
श्री जिन मोहनगारो छे ..

परमात्मा की स्तुति विभिन्न भाव भगिमो के साथ कवि की काव्य धारा मे प्रवाहित हो रही है। कवि अपने आन्तरिक भावो के साथ विभिन्न दृष्टिकोण भी प्रस्तुत कर रहे हैं। इन दृष्टिकोणो मे विभिन्न विषय समाये हुए रहते हैं। जीवन के उस शुद्ध मार्ग का निर्देशन भी वे देते हैं जिस पर चलकर आत्मा की समग्र पवित्रता प्राप्त की जा सकती है।

ज्ञानीजनों ने इस आत्मा को परमात्मा के तुल्य परम विशुद्ध स्वरूपी बनाने के लिये साधना के कई निर्देश दिये हैं। उन निर्देशों मे सबसे प्रधान आधार भूत निर्देश अहिसा की साधना का है। अहिसा सम्पूर्ण जगत् की ऐसी जननि है, जिसकी गोद मे सभी छोटे बडे प्राणी शान्ति के मधुर क्षणो का अनुभव करते हैं। इसकी गोद मे क्रूर से क्रूर प्राणी भी कोमल से कोमल प्राणी के साथ आत्मवत् मैत्री कर लेता है।

सत्य तो यह है कि अहिसा के अचल मे ही शाश्वत शान्ति की उपलब्धि होती है। इसी पवित्र अचल मे जगत् के प्राणियो को अपूर्व शान्ति मिली है, आज भी अहिसक आत्माएँ उस अपूर्व शान्ति का रसास्वादन कर रही है तथा भविष्य मे जो अहिसा के अचल में आत्म-रमण करेगा, वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता रहेगा।

अहिसा परम कर्त्तव्य है
अहिसा परम धर्म है

अहिसा वस्तुत जीवन का परम कर्त्तव्य है और जो परम कर्त्तव्य होता है, वही परम धर्म भी होता है, इसीलिये कहा है-- अहिसा परमोधर्म । शास्त्रकारों ने अहिसा को भगवती कहा है। जो इन्सान अहिसा के स्वरूप को समझ कर अपने जीवन को अहिसक बना लेता है, उसके जीवन की समग्र शक्तियॉ भव्य तरीके से विकसित हो जाती हैं। ऐसी अहिसा को सभी अपनी सारी वृत्तियों एव प्रवृत्तियो मे प्रधानता से स्थान दे-- यह परम धर्म है तथा वीतराग देव की पवित्र आज्ञा है।

विवेकशील व्यक्ति अहिसा के प्रयोग को केवल व्यक्तिगत जीवन मे ही नहीं, सामूहिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे भी श्रेयस्कर मानते हैं। हमारे देश में ही गाधी जी ने राष्ट्रीय स्वतत्रता प्राप्त करने के सघर्ष मे भी अहिसात्मक प्रणाली अपनाई। उनकी सत्याग्रह की शैली भी यही प्रकट करती है कि सामूहिक जीवन में अहिसा के आत्मबल से समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। अब तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अहिसा की उपयोगिता को मुक्त कठ से स्वीकार किया जा रहा है। इसलिये इस सत्य में दो मत नहीं है कि सदा और सर्वत्र जीवन में अहिसा का पालन किया जाना चाहिये।

लेकिन कभी-कभी मानव के मन की विचित्र दशा के परिणामस्वरूप पवित्र अवस्था का भी विकृत रूप उपस्थित किया जा सकता है। जैसे मिश्री मीठी होती है। मिश्री खाने से मुह मे मिठास घुल जाती है तो शरीर मे भी पौष्टिकता आती है। किन्तु मिश्री की व्याख्या भी व्याख्या करने वाले की प्रकृति पर निर्भर करेगी। पहली बात तो व्याख्या करने वाला मिश्री के स्वाद को किस रूप मे महसूस करता है और दूसरे वह अपनी महसूसगिरी सही प्रकट करता है या गलत ? इसलिये व्यक्ति की जैसी प्रकृति होती है, वैसी ही वह व्याख्या करता है। जिस व्यक्ति को सर्प ने डस लिया है और उसका जहर उसके सारे शरीर मे व्याप्त हो गया है, उस वक्त यदि उसको मिश्री खिलाई जाय और उससे पूछा जाय कि मिश्री का स्वाद कैसा है तो वह उस स्वाद को सही रूप में बता नहीं पाएगा। जहर के कारण मिश्री का सही जायका भी उसको विकृत रूप मे महसूस होगा। उसको तो कडुआ नीम भी उस समय ठीक ही लगेगा, बल्कि उसको वह मीठा भी बता सकता है। कडुवा उसको मीठा लगेगा और मीठे पदार्थ के स्वाद को वह कडुआ महसूस करेगा।

वैसे ही अह रूपी सर्प ने जिसको डस लिया है तथा क्रोध और प्रतिशोध का जहर जिसके अणु-अणु मे व्याप्त हो गया है, वह अहिसा की पवित्र धारा को यथावत् नहीं समझता है। यदि उसने किसी बात को पकड ली है तो अहकार की पुष्टि के लिये चाहे बात गलत ही हो उसको भी पक्की करने मे वह लग जाता है। वैसा व्यक्ति अहिसा जैसे पुनीत सिद्धान्त तक की व्याख्या करने में भिन्नता की दृष्टि अपना लेता है।

अहिसा की गभीरता व्यापक एव विशाल होती है

अह के वशीभूत होकर अहिसा की विकृत व्याख्या करना तथा अहिसा की व्यापक एव विशाल गभीरता को न समझना कोई शोभा की बात नहीं कहलाती । यह किसका कथन है कि अपनी ओर से किसी प्राणी को नही मारना ही अहिसा है, लेकिन मरते हुए किसी प्राणी की यदि रक्षा करते हैं तो वह हिसा होगी ? यह बात किसी भी समझदार व्यक्ति के दिमाग मे नही बैठेगी। विवेकशील व्यक्ति यही कहेगा कि ऐसा कहने वाले का मस्तिष्क जरूर ही अहकार के जहर से युक्त है और इसीलिये अहिसा की इस रूप मे व्याख्या कर रहा है। यदि किसी को नही मारना मात्र ही अहिसा है तो यह पट्टा जिस पर मैं बैठा हूँ किसी को नही मार रहा है तो यह बहुत बडा अहिसक बन जायगा। छोटा बच्चा किसी को नही मार रहा है तो वह भी अहिसक हो गया। लेकिन अहिसा और अहिसक की ऐसी व्याख्या सही नहीं है।

अहिसा का पूर्ण रूप ठीक हिसा के विपरित आता है। जब किसी प्राणी के प्राण नष्ट करने मे हिसा होती है तो प्राणो की रक्षा करने मे अहिसा है। सत्य का अर्थ सच बोलना है तो असत्य का अर्थ झूठ बोलना होता है। प्रत्येक विषय मे प्रवृत्ति एव निवृत्ति की दोनो धाराएँ चलती हैं। जहाँ नहीं करना निषेध रूप वृत्ति है याने कि निवृत्ति है और ठीक उसके अनुरूप कार्य करना– यह विधि है– प्रवृत्ति है। झूठ नहीं बोलना निवृत्ति है तो सत्य बोलना– यह प्रवृत्ति है। झूठ नहीं बोलना निषेध रूप सत्य है तो सत्य बोलना विधि रूप है।

इसी प्रकार किसी जीव को नहीं मारना– यह निषेध रूप अहिसा है। अत मरते हुए प्राणी की रक्षा करना– इसको विधि रूप अहिसा कहेगे। यह कथन किसी सामान्य व्यक्ति का कहा हुआ नही हैं, बल्कि पहुँचे हुए वीतराग प्रभु का कथन है। अहिसा की व्याख्या की गई है कि "न हिसा इति अहिसा", अर्थात् हिसा नहीं है तो अहिसा है, मारना नही हैं तो रक्षा करना है। कोई भी कार्य

करने का पक्ष होता है, वह स्वीकारात्मक पक्ष होता है। इस दृष्टि से अहिसा की स्वीकारात्मक याने कि विधि रूप यही होता है कि मरते या दु ख पाते हुए प्राणी के प्राणो की रक्षा की जाय– उसके प्रति दया और करुणा की जाय।

एक शासक ने अपने एक सेवक को बुलाया और आज्ञा दी– जाओ, किसी अब्राह्मण को बुला लाओ। ब्राह्मण शब्द के पहले 'अ' लगाने का अर्थ यह हुआ कि जो ब्राह्मण नही हो ऐसे व्यक्ति को बुलाओ। 'अ' का अर्थ नही भी है। वह सेवक उस आज्ञा को पकड कर रास्ते पर पडे एक बडे पत्थर को उठा लाया। क्या उसने आज्ञा का पालन किया ? वह तर्क करे कि अब्रह्मण को लाने की आज्ञा दी गई थी और यह पत्थर ब्राह्मण नही है। तो क्या उस तर्क के पीछे तात्पर्य दिखाई देगा ? अब्राह्मण को लाने की जो शासक की आज्ञा थी कि वह ब्राह्मण के अलावा अन्य व्यक्ति को लाने की थी, पत्थर को लाने की नहीं। सही तात्पर्य समझ कर जो सही काम करता है, तभी आज्ञा–पालन कहलाता है। अब अहिसा की अहिसा की व्युत्पत्ति को लेकर कोई कहे कि रक्षा करने में पाप है तो यह वैसा ही होगा कि अब्राह्मण को ले जाने की जगह कोई पत्थर ले जाय। वास्तव मे अहिसा की गभीरता व्यापक और विशाल होती है तथा उसकी व्याख्या एव उसके गूढार्थ को समझने के लिये व्यापक मस्तिष्क एव विशाल हृदय की ही आवश्यकता होती है।

हिसा की व्याख्या
अहिसा का गूढार्थ

हिसा की व्याख्या की गई है–
" प्रमत्तयोगात् प्राणव्यतिरोपण हिसा।"

अर्थात् प्रमाद योग से किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण का घात करना अथवा उसको कष्ट पहुँचाना हिसा है। कुल प्राण दस बताये गये हैं– 1 श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण– सुनने का बल, 2 चक्षुइन्द्रिय बल प्राण– देखने का बल, 3 घ्राणेन्द्रिय बल प्राण– सूघने का बल, 4 रसेन्द्रिय बल प्राण– चखने या बोलने का बल, 5 स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण– छूने या महसूस करने का बल, 6 मन बल प्राण– मन का बल, 7 वचन बल प्राण– वचन का बल, 8 काया बल प्राण– शरीर का बल 9 श्वासोश्वास बल प्राण– सास लेने का बल तथा आयुष्य बल प्राण– आयु का बल। मनुष्य को ये दसों प्राण प्राप्त होते हैं– यह सामान्य बात है। बाकी वे प्राणी जो पूर्णत विकसित नहीं होते, उनके कम प्राण भी होते हैं।

किन्तु यह जो प्राण शक्ति है, वह जीवन शक्ति होती है। तो इन दस प्राणों में से किसी प्राणी के किसी भी प्राण का व्यतिरोपण करना या हनन करना हिसा है।

अब यह सीधी सी बात है कि प्राणो का हनन नही करना और प्राणो की रक्षा करना यह अहिसा है। लेकिन जब अहकारवश कोई बात पकड ली जाती है तो फिर उस बात का खोखलापन समझ कर भी उसको घसीटना नहीं छोडते हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा सत्य को टेढे रास्ते से भी स्वीकार करना पडता है।

अभी इस महावीर परिनिर्वाण अढाई शती के प्रसग से दिल्ली में विनोबा जी के नेतृत्व मे एक गोष्ठी हुई और सर्वमान्य पुस्तक के नाम से "समण सुत्त" पुस्तक प्रकाशित हुई। उस पुस्तक की सर्वमान्यता को स्वीकार करने वाले सभी ने अपने-अपने हस्ताक्षर करके दिये जो पुस्तक मे मौजूद हैं। वहा राष्ट्रीय धरातल पर रहने वाले विद्वानो के समक्ष व्यक्ति यदि अपने यदि अपने अहकार की बात रखता तो चट से पकड लिया जाता। वहाँ पर अहकार को नीचा करना ही पडा और जो सम्मिलित हुए उनकी दृष्टि से सर्वमान्य पुस्तक प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में अहिसा की व्यवस्थित व्याख्या की गई है तथा उसमे स्पष्ट किया गया है कि मृत्यु से भय खाते हुए प्राणियो की रक्षा करना ही अभयदान है और यही बात वीतराग प्रभु की आज्ञासम्मत है कि मृत्यु से भय खाते हुए प्राणियों की रक्षा करना ही विधि रूप अहिसा है। यह अहकार ज्यादा नहीं घसीटा जाता और सत्य को सरलता से स्वीकार कर लिया जाता तो बात इतनी नहीं बढती। अब हस्ताक्षर तो कर दिये, लेकिन वही बात जीवन मे रखी जाय और सबको कही जाय, तब वचन की एकरूपता सिद्ध होगी। यह एकरूपता अभी सामने नहीं आई है बल्कि उनके कुछ अनुयायीगण तो उक्त अल्लेख का ही विरोध कर रहे हैं। खैर, जो सही वस्तुस्थिति है, वह अहिसा के गूढार्थ के रूप में यही है कि अहिसा के निषेध और विधि रूप दोनो पक्ष हैं तथा विधि रूप अगर न माना जाय तो निषेध निरर्थक हो जाता है। प्राणों का घात नहीं करना जहाँ कहते हैं, उससे भी पहले प्राणों की घात से रक्षा करना– यह विधि रूप आता है। अपने दोनों पक्षो के पूर्ण कार्यान्वय पर ही अहिसा का पूर्ण स्वरूप एव समग्र गूढार्थ प्रकट होता है।

रक्षा धर्म की अपूर्व महत्ता
अरिष्टनेमि के आदर्श से प्रकाशित

रक्षा धर्म की अपूर्व महत्ता को बाइसवे तीर्थंकर भगवान् श्री अरिष्टनेमि स्वय ने अपने आदर्श से प्रकाशित की है। अरिष्टनेमि तीर्थंकर थे और वे जानते

थे कि वे विवाह नहीं करेगे तथा पशुओ-पक्षियो का क्रन्दन सुनकर तोरण से वापिस मुड जायेगे और दीक्षित हो जायेगे। फिर वे भला विवाह करने गये ही क्यों ? मुख्य उद्देश्य था अहिसा के विधि रूप रक्षा धर्म को अपने स्वय के आदर्श से ससार को समझाना और बताना कि एक गृहस्थ के लिये भी रक्षा धर्म की अपूर्व महत्ता है। केवल निर्देश देने की अपेक्षा एक तीर्थंकर ने रक्षा धर्म को स्वय अपना कर दिखाया और मार्गदर्शन दिया।

महाराज कृष्ण ने सोचा कि मेरा भाई अरिष्टनेमि विवाह न करे– यह कैसे हो सकता है ? अत सत्यभामा आदि महारानियो ने विवाह की स्वीकृति के लिये यत्न किया। यह लम्बी कहानी है, लेकिन अरिष्टनेमि के मौन को स्वीकृति समझ ली गई तथा विवाह की तैयारियॉ शुरू हो गई। वे दूल्हा बनाये गये और जब बारात चढाई गई तो शोभा देखते ही बनती थी। जब वे तोरण बाधने के लिये मुख्य द्वार पर पहुँचे तो पास के बाडे से बन्द पशुपक्षियो का करुण क्रन्दन अरिष्टनेमि के कानों में पहुॅचा। मृत्यु का भय प्रत्येक प्राणी को जकडता है और पशुओ को भी जकडता है। बकरे को जब कसाई पकड कर ले जाता है तब वह चिल्लाता है, धर्मी पुरुष पास मे खडा हो तो नहीं चिल्लाता है। जब अरिष्टनेमि को ज्ञात हुआ कि बाडे मे पशु पक्षी बारातियो के भोजन हेतु वध करने को बन्द किये गये हैं तथा इस कारण वे चिल्ला रहे हैं तो उनका हृदय दया से द्रवित हो उठा।

अरिष्टनेमि ने पशु पक्षी के सम्बन्ध में यह जानकारी अपने सारथी से ली। यह जानकारी उन्होने सारथी से क्यो ली ? अवधिज्ञान के धारक होकर क्या वे स्वय नहीं जानते थे ? किन्तु ससार को रक्षा रूप अहिसा का महत्त्व बताने के लिये ही उन्होनें सारथी को पूछा। उसके माध्यम से वे प्रकट करना चाहते थे कि मैं क्या करने आया हूँ, क्या करना चाहता हूॅ और किस भावना से पूछ रहा हूॅ ? सारथी ने कहा– भगवन् आपके विवाह के प्रसग से मेहमानों को मास परोसने के लिये इनका वध किया जायगा, शायद इसी कारण ये चिल्ला रहे हैं। सारथी के मुह से इस बात को सुनकर उनका हृदय उन प्राणियों के प्रति इतना दयावान हुआ कि उनकी आकृति पर करुणा के भाव अकित हो उठे। सारथी समझ गया कि स्वामी इन प्राणियो की घात नही चाहते, बल्कि इनकी रक्षा करना चाहते हैं। उनके चेहरे पर फिर प्रसन्नता झलक उठे– इस दृष्टि से सारथी ने जाकर बाडा खोल दिया और सभी पशु पक्षियो को मुक्त कर दिया। वापिस आकर अपने स्वामी की आकृति देखता है तो वह प्रसन्नता से खिल उठी थी। उसका प्रमाण उन्होंने ही दिया कि अपने मूल्यवान आभूषण खोलकर

उन्होने सारथी को बक्षीस मे दे दिये।

प्रश्न है कि अरिष्टनेमि ने ऐसा क्यो किया ? इस तरह उन्होने ससार के सामने स्पष्ट किया कि जीवित रहने की अभिलाषा सभी प्राणियों की होती है, कोई मरना नही चाहता और वे पचेन्द्रिय प्राणी भी मृत्यु भय से क्रन्दन कर रहे थे। जो इनको मारता है, वह महान् पाप करता है। जो इनकी रक्षा करता है, वह अहिसा धर्म का पालन करता है। उन्होने अपने को अहिसक इस रूप मे बना कर दिखाया कि उन्होने स्वय ने मरते हुए प्राणियो की रक्षा की। इस भव्य तरीके से अहिसा का प्रचार करके उन्होने सारे ससार को क्रियाशील अहिसा का पाठ पढाया। इस प्रकार उनका यह प्रारभिक मगलाचरण बना कि प्राणियो के प्राणो की रक्षा करना अहिसा का मुख्य रूप है। यह रक्षा धर्म का आदर्श दिखाकर वे वन प्रान्तर की ओर चले गये तथा वर्षादान देकर दीक्षा अगीकार की एव केवल ज्ञान प्राप्त करके तीर्थो की स्थापना की और तीर्थकर कहलाये।

अहिसामय रक्षा व दया सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओ के पीछे न रहे

अहिसा के इस विधि रूप रक्षा एव दया धर्म के सम्बन्ध मे जो भ्रान्त धारणाएँ फैलाई गई या अव्यक्त रूप से फैलाई जा रही हैं, विवेकशील व्यक्ति उनके पीछे नहीं रहे। यदि यह पूछा जाय कि क्या अरिष्टनेमि सम्बन्धी इस घटना का कही शास्त्र मे उल्लेख है तो कहा जा सकता है कि स्पष्ट उल्लेख है। भ्रान्त धारणाएँ फैलाने वाले केवल एक तर्क देते हैं जो हास्यास्पद है। वे कहते हैं कि अरिष्टनेमि ने अपने मुह से पशु पक्षियों की रक्षा करने की बात नहीं कही। यदि रक्षा में धर्म होता तो वे अपने मुह से स्पष्ट कहते। इस तर्क को आप अपनी कसौटी पर कसिये।

जो व्यक्ति अपने मुह से कुछ कहे और फिर उसका अनुचर उस काम को करे वह अच्छा या वह अनुचर अच्छा जो स्वामी का सकेत समझ कर ही काम को पूरा करले। दोनों में से कौन अच्छा कहलाता है ? कहने पर तो पशु भी काम कर देता है, फिर मनुष्य के विवेक की क्या विशेषता होगी ? जो स्वामी के अभिप्राय को समझ कर बिना कहे ही काम कर देता है, उस अनुचर पर स्वामी विशेष रूप से प्रसन्न होते हैं और पुरस्कार देते हैं। इसी कारण अरिष्टनेमि ने अपने सारथी को सामान्य पुरस्कार नहीं दिया बल्कि दूल्हे की पोशाक के सारे मूल्यवान आभूषण ही पुरस्कार स्वरूप दे दिये। इससे उनकी अतीव प्रसन्नता का अनुमान लगता है और वह अतीव प्रसन्नता उन्हे पशु पक्षियो की रक्षा करने व

उनको बधन से छुडवा देने के कारण हुई थी। अगर वे रक्षा मे पाप मानते तो सारथी को ताडना दे सकते थे और कम से कम अपने मूल्यवान आभूषण तो पुरस्कार मे नहीं देते। इस पुरस्कार से तो कोई भी यही आशय निकालेगा कि ऐसा करके उन्होने जीव रक्षा के सिद्धान्त को ही प्रश्रय दिया। इसलिये यह स्पष्ट है कि प्राणियो के प्राणो की रक्षा करना धर्म है और इसी कारण अहिसा को परम धर्म कहा गया।

जिनकी कथनी और करनी में अन्तर होता है, वे ही ऐसे पवित्र सिद्धान्त के प्रति भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न करते हैं तथा रक्षा एव दया सम्बन्धी श्रेष्ठ भावनाओ को बदनाम करते हैं। सच्चे अहिसको को ऐसी भ्रान्त धारणाओ से दूर ही रहना चाहिये।

दिन के उजाले की तरह भगवान् अरिष्टनेमि का चरित्र सामने है। प्रभु महावीर ने सभी जीवो की रक्षा करने को सर्वश्रेष्ठ महत्त्व प्रदान किया और क्षमा का पाठ पढाया। इस भगवती अहिसा को आप भी अपने हृदय में बिठा लीजिये, फिर देखिये कि कैसी अनुपम शान्ति आपके जीवन मे खिल उठती है ?

अहिसा के रक्षा-रूप विधि पक्ष की पुनर्प्रतिष्ठा

एक समय था, जब रक्षा, दया एव दान के सम्बन्ध मे फैलाई गई भ्रान्त धारणाओं ने काफी असर दिखाया और भद्रिक भाई ऐसी धारणाओ के पीछे चल पडे। स्व आचार्य श्री श्रीलाल जी म सा एव स्व आचार्य श्री जवाहिरलाल जी म सा ने इस भ्रान्ति को मिटाने के प्रयत्न चालू किये। आचार्य श्री जवाहिरलाल जी म सा ने बहुत परिश्रम उठाया तथा अहिसा रूप सद्धर्म के मडन के लिये उन्होने सही बाते सामने रखी। स्व आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा ने भी बहुत प्रयत्न किया। लेकिन आखिर मे सद् प्रयत्न फल देते हैं। उन आचार्य देवो के परिश्रय का सुफल आप देख ही रहे हैं कि भ्रान्त धारणाओ की जडे हिल चुकी है तथा अहिसा के रक्षा रूप विधि पक्ष को पुनर्प्रतिष्ठा हो चुकी है।

चाहे अन्दर कुछ रूप हो बाहर कुछ कहा जा रहा हो– लेकिन राष्ट्रीय विद्वान् पुरुषो के परिश्रम से 'समण सुत्त' पुस्तक सामने आई है जिसमे रक्षा एव दान की स्थितियो का स्पष्ट उल्लेख है। उसमे कहा गया है कि दान देते समय पात्र और अपात्र का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। दान की श्रेष्ठता देने वाले के भावों पर अवलम्बित रहती है तथा भावो के अनुसार ही पुण्य और पाप होगा।

जहाँ आचार्य श्री ने अहिसा विधि को प्रकट करने के लिये बहुतेरा प्रयत्न किये, उसका सुपरिणाम सामने आ रहा है और यह बडी उपलब्धि है। यह भगवान् की उपलब्धि है। जो वीतराग भगवान् का सिद्धान्त है, उसका आचार्य श्री जवाहिरलाल जी म सा ने दृढतापूर्वक प्रतिपादन किया तथा लोगो के मन मस्तिष्क को स्वच्छ बना दिया। भगवान् का वह सिद्धान्त सही तरीके से दुनिया के सामने आ रहा है, दुनिया भी उसकी अपेक्षा कर रही है तथा सारा प्रसग चल रहा है।

भगवान् अरिष्टनेमि ने समग्र प्राणियो की रक्षा के लिये भगवती अहिसा को जीवन में स्थान दिया तथा ससार को बता दिया कि जो इस भगवती की शरण मे चला जायगा, वह स्वय भी भयरहित हो जायगा तथा ससार को भी निर्भय बना देगा। वह स्वय भी शान्ति सम्पन्न हो जायगा तो ससार को भी शान्ति के अमृत का रसास्वादन करा देगा। शाश्वत शान्ति अहिसा के अचल मे ही मिलेगी।



अष्टाचार्य विवरणिका

हु.शि. उ. चौ. श्री. ज. ग. नाना

१. महान क्रियोद्धारक, दीर्घ तपस्वी आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री हुक्मीचंदजी म.सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल /तिथि	आनन्दधाम
टोडारायसिंह	बूंदी	बीकानेर	जावद
वि.सं १८६०	वि.सं १८७९	वि.सं १९०७	वि स. १९१७
पौ. सु. ९	मिगसर सुदी २	माघ सुदी ५	वैशाख सुदी ५

२. प्रकाण्ड विद्वान परम तपस्वी आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री शिवलाल जी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल /तिथि	आनन्दधाम
धामनिया	रतलाम	जावद	जावद
वि.सं. १८६७	वि.सं. १८९१	वि सं. १९१७	वि सं १९३३
पौष सुदी १०	मि सु १	वैशाख सुदी ५	पौष सुदी ६

३. विचक्षण प्रतिभा के धनी आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री उदय सागर जी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल /तिथि	आनन्दधाम
जोधपुर	बीकानेर	जावद	रतलाम
वि.स १८७६	वि.सं. १९०८	वि.सं. १९३३	वि सं १९५४
आसोज सुदी १५	चैत्र सुदी ११	पौ. सु. ६	माघ सुदी ११

४. निर्ग्रन्थ शिरोमणि महान क्रियावान आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री चौथमल जी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल /तिथि	आनन्दधाम
पाली	ब्यावर	रतलाम	रतलाम
वि सं. १८८५	वि.सं. १९०९	वि.सं. १९५४	वि.सं १९५७
वैशाख सुदी ४	चैत्र सुदी १२	माघ सुदी १०	कार्तिक सुदी ९

५. अद्‌भुत स्मृति के धारक आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री श्रीलालजी म.सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल /तिथि	आनन्दधाम
टोंक	बनेड़ा	रतलाम	जैतारण
वि.सं. १९२६	वि.सं. १९४५	वि.सं. १९५७	वि.सं. १९७७
आषाढ सुदी १२	माघ वदी २	कार्तिक सुदी ९	आषाढ सुदी ३

६. महान क्रान्तिकारी ज्योतिर्धर युगपुरुष आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री जवाहरलालजी म. सा

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल /तिथि	आनन्दधाम
थांदला	लीमडी ग्राम	जैतारण	भीनासर
वि स १९३२	वि.सं. १९४८	वि सं १९७७	वि स २०००
कार्तिक सुदी ४	मि.सुदी २	आ.सु. ३	आषाढ़ सुदी ८

७. संयमित एकता के सूत्रधार आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री गणेशीलाल जी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल /तिथि	आनन्दधाम
उदयपुर	उदयपुर	भीनासर	उदयपुर
वि स १९४७	वि सं. १९९२	वि स २०००	वि स २०१९
श्रावण बदी ३	मिगसर बदी १	आषाढ़ सुदी ८	माघ बदी २

८. धर्मपाल प्रतिबोधक, समता विभूति, समीक्षण ध्यानयोगी आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	युवाचार्य पद स्थल /तिथि	आचार्य पद स्थल /तिथि
दांता ग्राम	कपासन	उदयपुर	उदयपुर
वि.सं. १९७७	वि स. १९९६	वि.सं २०१९	वि स २०१९
ज्येष्ठ सुदी २	पौष सुदी ८	आषाढ सुदी २	माघ बदी २

✲ तरुण तपस्वी, आगमज्ञाता युवाचार्य श्री १००८ श्री रामलालजी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	मुनि प्रवर पद स्थल /तिथि	युवाचार्य पद स्थल/ तिथि
देशनोक	देशनोक	चित्तौडगढ़	बीकानेर
वि स. २००९	वि स. २०३१	वि.सं २०४७	वि स २०४८
चैत्र सुदी १४	माघ सुदी १२	आसोज सुदी २	फाल्गुन सुदी ३



आचार्य भगवत श्री नानेश द्वारा घोषित एकादश श्रावक दायित्व प्रतिबोध

समता विभूति आचार्य श्री नानेश द्वारा प्रतिबोधित श्रावक वर्ग का दायित्व बिन्दुवार प्रस्तुत है।

—साधु-साध्वियो की निर्ग्रन्थता बरकरार रहे, उसमे किसी तरह का दोष नही लगे। इसकी पूरी सजगता रखी जाय।

—त्यागी आत्माओं के समक्ष व धार्मिक अनुष्ठानो के समय सासारिक बाते न हो।

—किसी व्यक्ति विशेष के प्रसग को लेकर अपनी आस्था को चलायमान नही होने देना क्योंकि कभी-कभी सुनी हुई या देखी हुई बात भी भ्रामक या गलत हो सकती है। यदि सच्ची प्रतीत भी हो तो यही चिन्तन करना चाहिए कि व्यक्ति गलत हो सकता है पर जिनेश्वर देवो का सिद्धान्त गलत नही हो सकता।

—सघ के किसी सदस्य की व्यवस्था विषयक कमी कोई अन्यथा बात देखने या सुनने को आवे तो उसकी इधर-उधर चर्चा नहीं करते हुए शासन सेवा की भावना से उस बात को सघ-नायक अनुशास्ता तक पहुँचा देनी चाहिए।

—सघ के किसी सदस्यो के पास अलग—अलग क्षमताएँ होती हैं कोई स्नातक—अधिस्नातक आदि शिक्षित, प्रबुद्ध व बुद्धिजीवी होते हैं। उनके पास बौद्धिक क्षमता होती हैं। किसी के पास समय होता है तो किसी के पास शारीरिक क्षमता। इसी तरह किसी मे वाचिक आदि अन्य अनेक क्षमताएँ होती है।

—उन्हे अपनी क्षमतानुसार अपनी शक्ति/शक्तियो का समविभागीकरण कर बच्चों, युवाओं और बहिनो आदि के धार्मिक शिक्षण व्यवस्था, स्वधर्मी वात्सल्यता, स्वाध्याय प्रवृति, जरूरतमद स्वधर्मियों की अपेक्षित सेवा, अहिसा प्रसार, ज्ञान प्रसार। असहाय पीडित मानवता की सेवा, स्वधर्मियो की उन्नति के उपाय आदि विभिन्न रचनात्मक क्षेत्रो मे अपनी क्षमता व शक्ति का सदुपयोग कर धर्म की प्रभावना करना।

—प्रभु महावीर के शासन का अनूठा प्रताप है, जिससे अच्छे-अच्छे घर-घरानों की सताने भौतिकता के इस युग में भी भौतिक सुख-सुविधाओ से मुख मोडकर सयमी जीवन अगीकार कर रही है। ऐसे सयम साधकों के प्रति श्रावक-श्राविका वर्ग का जो दायित्व है उसका निर्वघ्न करने के प्रति सजग रहना।

—वर्तमान मे साध्वियो की सुरक्षा एक गभीर विषय बना हुआ है। उनके परिजन सघ के विश्वास पर आज्ञा प्रदान करते हैं। उनके विश्वास को अखड रखने की दृष्टि से तथा शासन सेवा की भावना से प्रत्येक व्यक्ति अपना दायित्व समझकर रक्षा सुरक्षा के प्रति विशेष रूप से जागरूक रहना।

—धार्मिक क्षेत्र मे बढ रही फोटो आदि प्रवृत्तियो के विषय में समय-समय पर

(शेष पृष्ठ 6 पर)

६. महान क्रान्तिकारी ज्योतिर्धर युगपुरुष आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री जवाहरलालजी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल / तिथि	आनन्दधाम
थादला	लीमड़ी ग्राम	जैतारण	भीनासर
वि सं. १९३२	वि.स १९४८	वि सं १९७७	वि स २०००
कार्तिक सुदी ४	मि सुदी २	आ सु. ३	आषाढ़ सुदी ८

७. संयमित एकता के सूत्रधार आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री गणेशीलाल जी म. सा

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	आचार्य पद स्थल / तिथि	आनन्दधाम
उदयपुर	उदयपुर	भीनासर	उदयपुर
वि स १९४७	वि स १९६२	वि स २०००	वि स २०१९
श्रावण बदी ३	मिगसर बदी १	आषाढ़ सुदी ८	माघ बदी २

८. धर्मपाल प्रतिबोधक, समता विभूति, समीक्षण ध्यानयोगी आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	युवाचार्य पद स्थल / तिथि	आचार्य पद स्थल / तिथि
दांता ग्राम	कपासन	उदयपुर	उदयपुर
वि स १९७७	वि.सं. १९९६	वि.सं २०१९	वि स २०१९
ज्येष्ठ सुदी २	पौष सुदी ८	आषाढ़ सुदी २	माघ बदी २

✻ तरुण तपस्वी, आगमज्ञाता युवाचार्य श्री १००८ श्री रामलालजी म. सा.

जन्म स्थान/तिथि	दीक्षा स्थल/तिथि	मुनि प्रवर पद स्थल / तिथि	युवाचार्य पद स्थल/ तिथि
देशनोक	देशनोक	चित्तौडगढ	बीकानेर
वि.सं. २००९	वि.स २०३१	वि सं २०४७	वि स २०४८
चैत्र सुदी १४	माघ सुदी १२	आसोज सुदी २	फाल्गुन सुदी ३



आचार्य भगवत श्री नानेश द्वारा घोषित एकादश श्रावक दायित्व प्रतिबोध

समता विभूति आचार्य श्री नानेश द्वारा प्रतिबोधित श्रावक वर्ग का दायित्व बिन्दुवार प्रस्तुत है।

–साधु-साध्वियों की निर्ग्रन्थता बरकरार रहे, उसमे किसी तरह का दोष नही लगे। इसकी पूरी सजगता रखी जाय।

–त्यागी आत्माओ के समक्ष व धार्मिक अनुष्ठानो के समय सासारिक बाते न हो।

–किसी व्यक्ति विशेष के प्रसग को लेकर अपनी आस्था को चलायमान नहीं होने देना क्योंकि कभी-कभी सुनी हुई या देखी हुई बात भी भ्रामक या गलत हो सकती है। यदि सच्ची प्रतीत भी हो तो यही चिन्तन करना चाहिए कि व्यक्ति गलत हो सकता है पर जिनेश्वर देवों का सिद्धान्त गलत नहीं हो सकता।

–सघ के किसी सदस्य की व्यवस्था विषयक कभी कोई अन्यथा बात देखने या सुनने को आवे तो उसकी इधर-उधर चर्चा नही करते हुए शासन सेवा की भावना से उस बात को सघ-नायक अनुशास्ता तक पहुँचा देनी चाहिए।

–सघ के किसी सदस्यो के पास अलग–अलग क्षमताएँ होती हैं कोई स्नातक–अधिस्नातक आदि शिक्षित, प्रबुद्ध व बुद्धिजीवी होते हैं। उनके पास बौद्धिक क्षमता होती हैं। किसी के पास समय होता है तो किसी के पास शारीरिक क्षमता। इसी तरह किसी मे वाचिक आदि अन्य अनेक क्षमताएँ होती है।

–उन्हे अपनी क्षमतानुसार अपनी शक्ति/शक्तियो का समविभागीकरण कर बच्चों, युवाओं और बहिनो आदि के धार्मिक शिक्षण व्यवस्था, स्वधर्मी वात्सल्यता, स्वाध्याय प्रवृति, जरूरतमद स्वधर्मियो की अपेक्षित सेवा, अहिसा प्रसार, ज्ञान प्रसार। असहाय पीडित मानवता की सेवा, स्वधर्मियो की उन्नति के उपाय आदि विभिन्न रचनात्मक क्षेत्रो में अपनी क्षमता व शक्ति का सदुपयोग कर धर्म की प्रभावना करना।

–प्रभु महावीर के शासन का अनूठा प्रताप है, जिससे अच्छे-अच्छे घर-घरानों की सताने भौतिकता के इस युग मे भी भौतिक सुख-सुविधाओ से मुख मोडकर सयमी जीवन अगीकार कर रही है। ऐसे सयम साधकों के प्रति श्रावक-श्राविका वर्ग का जो दायित्व है उसका निर्वघ्न करने के प्रति सजग रहना।

–वर्तमान में साध्वियो की सुरक्षा एक गभीर विषय बना हुआ है। उनके परिजन सघ के विश्वास पर आज्ञा प्रदान करते हैं। उनके विश्वास को अखड रखने की दृष्टि से तथा शासन सेवा की भावना से प्रत्येक व्यक्ति अपना दायित्व समझकर रक्षा सुरक्षा के प्रति विशेष रूप से जागरूक रहना।

–धार्मिक क्षेत्र मे बढ रही फोटो आदि प्रवृत्तियो के विषय मे समय-समय पर

(शेष पृष्ठ 6 पर)

८४०० वर्षों का कलेण्ड

हु. शि. उ.

वर्ष

(ऊपर के) (सैकड़ो मे)

आचार्य	९६००	९७००	९८००
	९२००	९३००	९४००
हुकमीचन्द जी म सा	८८००	८९००	९०००
	८४००	८५००	८६००
शिवलाल जी म सा	८०००	८१००	८२००
	७६००	७७००	७८००
	७२००	७३००	७४००
उदयसागर जी म सा	६८००	६९००	७०००
	६४००	६५००	६६००
चौथमल जी म सा	६०००	६१००	६२००
	५६००	५७००	५८००
	५२००	५३००	५४००
श्रीलाल जी म सा	४८००	४९००	५०००
	४४००	४५००	४६००
जवाहरलाल जी म सा	४०००	४१००	४२००
	३६००	३७००	३८००
	३२००	३३००	३४००
गणेशीलाल जी म सा	२८००	२९००	३०००
	२४००	२५००	२६००
	२०००	२१००	२२००
नानालाल जी म सा	१६००	१७००	१८००

०	२८	५६	८४	ह	उ चौ	ज
१	२९	५७	८५	नाना	शि	श्री
२	३०	५८	८६	ग	ह	उ चौ
३	३१	५९	८७	ज	नाना	शि
४	३२	६०	८८	उ चौ	—	नाना
५	३३	६१	८९	शि	श्री	ग
६	३४	६२	९०	ह	उ चौ	ज
७	३५	६३	९१	नाना	शि	श्री
८	३६	६४	९२	ज	नाना	शि
९	३७	६५	९३	श्री	ग	ह
१०	३८	६६	९४	उ चौ	ज	नाना
११	३९	६७	९५	शि	श्री	ग
१२	'०	६८	९६	नाना	शि	श्री
१३	१	६९	९७	ग	ह	उ चौ
१४	'२	७०	९८	ज	नाना	शि
१५	४३	७१	९९	श्री	ग	ह
१६	४''	७२	०	शि	श्री	ग
१७	''५	७३	०	ह	उ चौ	ज
१८	'६	७४	०	नाना	शि	श्री
१९	४७	७५	०	ग	—	उ चौ
२०	४८	७६	०	श्री	ग	ह
२१	४९	७७	०	उ चौ	ज	नाना
२२	५०	७८	०	शि	श्री	ग
२३	५१	७९	०	ह	उ चौ	ज
२४	५२	८०	०	ग	ह	उ चौ
२५	५३	८१	०	ज	नाना	शि
२६	५४	८२	०	श्री	ग	
२७	५५	८३	०	उ चौ	ज	नाना

न् १६०० से ९९९९ तक)

ज. ग. नाना

महिने									
(१) जनवरी ३१		(१०) अक्टोबर १	हु	शि	उ चौ	श्री	ज	ग	नाना
(२) फरवरी (२८)	(३) मार्च १	(११) नवम्बर (३०)	श्री	ज	ग	नाना	हु	शि	चौ
(४) अप्रेल (३०)	(लीप) जनवरी	(७) जुलाई ३१		हु	शि	उ चौ	श्री	ज	ग
(५) मई (३१)			शि	उ चौ	श्री	ज	ग	नाना	हु
(६) जून (३०)			ज	ग	नाना		शि	उ चौ	श्री
(८) अगस्त ३१		(लीप) फरवरी २९	उ चौ	श्री	ज	ग	नाना	हु	शि
(९) सितम्बर (३०)		(१२) दिसम्बर (३१)	ग	नाना	हु	शि	उ चौ	श्री	ज

तारीख					वार (दिन)						
१	८	१५	२२	२९	रविवार	शनिवार	शुक्रवार	गुरुवार	बुधवार	मगलवार	सोमवार
२	९	१६	२३	३०			शनिवार			बुधवार	
३	१०	१७	२४	१	मगलवार	सोमवार	रविवार	शनिवार	[illegible]	गुरुवार	बुधवार
४	११	१८	२५	*		मगलवार	सोमवार	रविवार	शनिवार	शुक्रवार	गुरुवार
५	१२	१९	२६	*	•	घवार		सोमवार	रविवार		शुक्रवार
६	१३	२०	२७	*	[illegible]		घवार	मगलवार	सोमवार	रविवार	१
७	१४	२१	२८	*	शनिवार	१			मगलवार		

- विधि -

१ सैकड़ा वर्षो की खड़ी लाइन से ऊपर के वर्षो की आड़ी लाइन मिलाने पर जो अक्षर प्राप्त हो, उसे महीने की आड़ी लाइन में देखें। फिर उसकी खड़ी लाइन से तारीख की आड़ी लाइन मिलाने पर जो वार प्राप्त होगा, वही उत्तर है।

२ लीप ईयर में फरवरी २९ दिन की होती है। सभी लीप ईयर अलग से अकित हैं। लीप ईयर में जनवरी व फरवरी (लीप जनवरी व लीप फरवरी ही देखें) जैसे –

३ ११ १ ७६ १९०० खड़ी लाइन को ७६ की आड़ी लाइन मिलाने पर उ चौ प्राप्त हुआ। लीप जन्वरी में उ चौ सामने चौथे खण्ड में है। इसकी खड़ी लाइन को ११ ता की आड़ी लाइन से मिलाने पर "रविवार" प्राप्त होता है। वही उत्तर है अर्थात् ११ १ १९७६= रविवार।

हु.शि.उ.चौ. श्री.ज.ग.नाना।
राम चमकता भानु समाना॥

(शेष पृष्ठ 3 का)

निषेध करता रहा हूँ। उन भावो को ध्यान मे रखते हुए जैन आदि के द्वारा स्वागत करने की परम्परा बनती जा रही है। उस पर गमीरता से चिन्तन करना चाहिए। त्यागियों का स्वागत बैनर आदि से नहीं अपितु तप-त्याग से किया जाना चाहिए।

—धार्मिक अनुष्ठान, सामायिक, पौषध, सवर, व्याख्यान, प्रार्थना, प्रतिक्रमण ज्ञान-चर्चा आदि में तत्परता पूर्वक भाग लेना। हास्य कवि सम्मेलन, लोकरजन आदि आत्म साधनों के अनुकूल नहीं होने से ऐसे कार्यक्रमों का वर्जन करना आदि के उस प्रकार से श्रावक श्राविका वर्ग अपनी क्षमता व शक्ति अनुसार सघ की भव्य सेवा कर सकते हैं।

—आधुनिकता का तूफान जोर पर है। यह तूफान कभी-कभी साधु-साध्वियों को भी विचलित करने वाला बन सकता है। ऐसी स्थिति मे श्रावक श्राविकाओं का कर्त्तव्य है कि वे गमीरता, सर्तकता एव विवेक का परिचय दे। अर्थात् विचलित होने वालों को अत्यन्त विनम्र शब्दो मे सघ हित से प्रेरित हो निवेदन करे।

आचार्य १००८ पूज्य श्री नानालालजी म सा के चातुर्मास की सूची

क्र स	वि स	चातुर्मासस्थल	क्र स	वि स	चातुर्मासस्थल
1	2020	रतलाम	19	2038	उदयपुर
2	2021	इन्दौर	20	2039	अहमदाबाद
3	2022	रायपुर	21	2040	भावनगर
4	2023	राजनादगाव	22	2041	बोरिवली (बम्बई)
5	2024	दुर्ग	23	2042	घाटकोपर (")
6	2025	अमरावती	24	2043	जलगाव
7	2026	मन्दसौर	25	2044	इन्दौर
8	2027	बडी सादडी	26	2045	रतलाम
9	2028	ब्यावर	27	2046	कानौड
10	2029	जयपुर	28	2047	चित्तोडगढ
11	2030	बीकानेर	29	2048	पिपलियाकला
12	2031	सरदारशहर	30	2049	उदयरामसर
13	2032	देशनोक	31	2050	देशनोक
14	2033	नोखामण्डी	32	2051	नोखामण्डी
15	2034	गगाशहर–भीनासर	33	2052	बीकानेर
16	2035	जोधपुर	34	2053	गगाशहर-बीकानेर
17	2036	अजमेर	35	2054	ब्यावर
18	2037	राणावास	36	2055	—

समता-विभूति आचार्य श्री नानेश की चिन्तन-मणिया

अक्षय तृतीया के पावन प्रसग पर अक्षय सुख प्राप्ति हेतु प्रारम्भिक साधना के

* नव सूत्र *

1 हे चैतन्य देव। तू सोच कि * मैं कहा से आया हू * किसलिए आया हू * क्या कर रहा हूँ * और क्या करना चाहिए ? *

2 हे चैतन्य पुरुष। * तू चारगति * चौरासी लाख जीव योनि से * भटकता हुआ *आ रहा है * तूने * अमूल्य मनुष्य जन्म * पाया है * और तू आर्य कुल आदि * उत्तम सयोग से * सम्पन्न है * अत सोच * तुझे क्या करना है ? *

3 हे ज्ञान पुण्ज। * मनुष्य जन्म को पर्याय मे * तेरा परम शान्ति * बाधा रहित अक्षय सुख * एव ज्ञान दर्शन चरितादि * आत्मिक गुणों को * प्राप्ति के लिए * आना हुवा है।

4 हे ज्योतिर्मय आत्मन्। * तू मध्यस्थ भाव से * चिन्तन कर कि * मैं क्या सोच रहा हू * क्या बोल रहा हूँ * ओर क्या कर रहा हूँ । *
मैं वर्त्तमान मे * सासारिक भौतिक * सुख सुविधाओं को ही * सर्वोपरि मान रहा हू * इन्हीं के लिए * झूठ प्रपच आदि * अनेक वृतियो में * उलझ रहा हूँ। * अनभिज्ञता पूर्वक * अमानवीय भावो में * बहता रहता हूँ। * कटु शब्दादि का *प्रयोग कर * दूसरों के * दिलो के टुकडे * किये जाने की * प्रवृत्ति भी यदा कदा * करता रहता हूँ। * क्या यह मेरे * शुभागमन के योग्य है ? * उत्तर होगा * कदापि नहीं *

5 हे सुज्ञ चैतन्य। * तुझे तुच्छ भाव से * न सोचना है * न चिन्तन करना है * न बोलना है * और न व्यवहार ही करना हैं *यही तेरे लिए *शोभास्पद है।*

6 हे प्रबुद्ध चैतन्य। * तू सोच एव समझ कि *मिथ्या श्रद्धा मेरी नहीं हैं। * मिथ्या ज्ञान मेरा नहीं है। * असत्य मेरा नहीं है। *पर पदार्थो पर * ममत्व भाव मेरा नहीं है। * कषाय मेरा स्वभाव नहीं है। * दूसरो की निन्दा करना * सुनना * क्लेश करना * एव मिथ्या दर्शन शल्यादि * मन मे रखना * तथा मोह सम्बन्धी * कार्य करना * मेरी आत्मा एव अन्य की आत्मा के लिए * हितकर नहीं है।*

7 हे विज्ञाता। तू अविचल * श्रद्धान कर कि * सुदेव, * सुगुरु, * सुधर्म, * अहिसा, सत्य * अचौर्य, ब्रह्मचर्य, * अपरिग्रह * एव स्याद्वादादि * सिद्धान्तो

पर ही * मेरी दृढ श्रद्धा है।

8 हे सिद्ध बुद्ध निरजन आत्मन् ! सिद्धावस्था की अपेक्षा से * तू दीर्घ नहीं है * तथा ह्रस्वादि लौकिक * विशेषणो से युक्त नहीं है। * तेरा कोई * वर्ण गध रस * स्पर्शादि युक्त आकार भी * नहीं है। * न तू स्त्री है, * न पुरुष है * न नपुसक है * तो फिर क्या है ? *

अरूपी है * शाश्वत है * अशरीरी है * अजर है * अमर है * अवेदी है * अखेदी है * अलेसी है * अक्षय सुख रूप है * एव ज्ञाता व द्रष्टा आदि * सम्परिपूर्ण आत्मीय * गुणो से सम्पन्न है। * अत अपने स्वरूप को समझ।*

9 हे सुज्ञानी आत्मन् ! तू ध्यान धर कि * मैं समग्र बन्धनो से विनिर्मुक्त बनू। * आत्मिक स्वरूप के * आदर्श को सामने रखू। सदा सर्वदा * सम्यक् विधि से *जीवन को उन्नत बनाऊ। * यह मेरी * शुद्ध अन्तरात्मा की * श्रद्धा प्ररुपणा है * और आचरण की * परिपूर्णता के लिए * शुभ प्रयत्न है।

यह भावना सदैव बनी रहे—समत्व भज भूतेषु निर्ममत्व विचिन्तय।
अपाकृत्य मन शल्य भावशुद्धि समाश्रय।।

नोट – उपर्युक्त नव सूत्रो को प्रति दिन प्रात प्रार्थना के पश्चात् चिन्तन मनन पूर्वक पहले एक बोले फिर सभी सयुक्त रूप से तन्मयता पूर्वक बोले। किन-किन शब्दो को कहा तक बोले इस सुविधा के लिए स्थान-स्थान पर * का चिन्ह लगाया गया है।



* केशरा चन्द मूल

(जनरल मर्चेट एण्ड कमीश

पो बॉ न 11

पोस्ट ऑफिस नोखा- 3

जिला बीकानेर (रा

फोन दुकान 20024, घ

* धरम चन्द मनीष

पो ऑ नोखा- 334

जि बीकानेर (रा

* जैन किराणा स

सदर बाजार

पो ऑ नोखा-334

जि बीकानेर (रा

